(खण्ड दो)

रचना पक्ष

नयी कविता

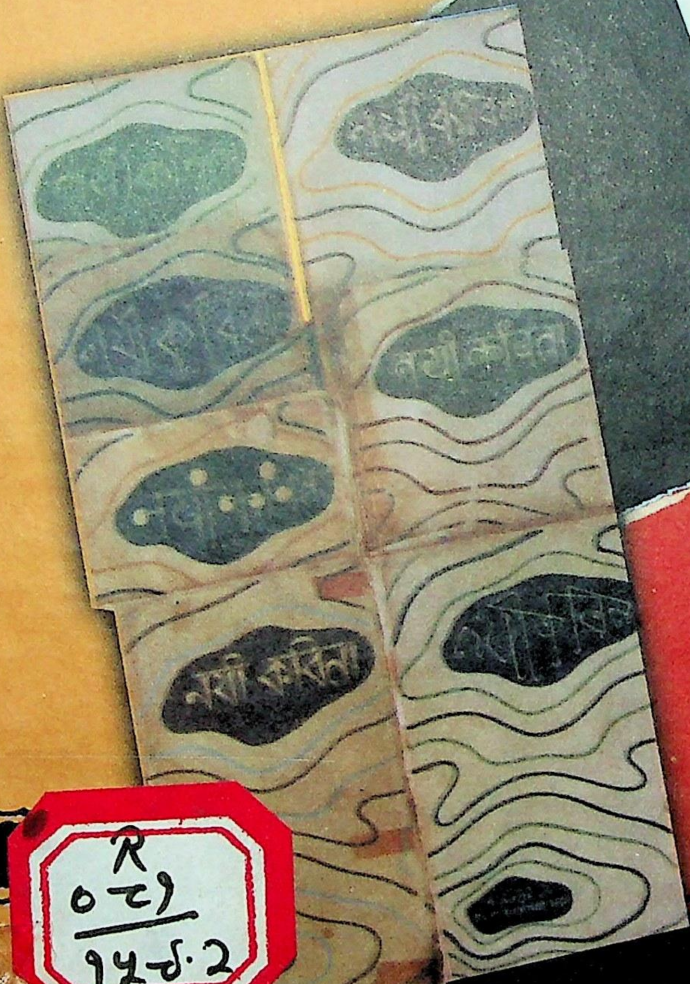


जगदीश गुप्त
रामस्वरूप चतुर्वेदी
विजयदेव नारायण साही

(खण्ड दो)

रचना पक्ष

नयी कविता



जगदीश गुप्त
रामस्वरूप चतुर्वेदी
विजयदेव नारायण साही

नयी कविता–रचना पक्ष

नयी कविता का विशेष कवियों के रूप में आकलन सव्याख्या प्रस्तुति और परिचय के रूप में अनेक कवियों का योगदान स्मरणीय है। धर्मवीर भारती की काव्य-रचना 'अन्धा युग' और 'कनुप्रिया' दोनों पहली बार नयी कविता में प्रकाशित हुए। इसी तरह लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'परतों की आवाज़' एवं 'एक एक्स्ट्रा' जैसी रचनाएँ पहली बार सामने आयीं। युद्ध कविताएँ नयी कविता की क्रान्तिकारी चेतना का प्रमाण हैं। इसी प्रकार लम्बी कविताओं का समारम्भ भी नयी कविता ने ही किया। जिन वरिष्ठ कवियों ने नयी कविता को सव्याख्या कविताएँ देकर विशेष सहयोग दिया उनमें गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, रघुवीर सहाय, शमशेर बहादुर सिंह, कुँवर नारायण और भवानीप्रसाद मिश्र के नाम गौरव के साथ उल्लेखनीय हैं। उन्होंने नयी कविता से अपने को जोड़ने और शक्ति देने में आत्मीयता का अनुभव किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। कुँवर नारायण ने अनाम की कविताएँ प्रस्तुत कीं और वालकृष्ण राव ने कुँवर नारायण की और लक्ष्मीकान्त वर्मा को विजयदेव नारायण साही ने सामने लाने का साहस किया। स्वयं अज्ञेय जी ने सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का परिचय लिखकर सिद्ध किया कि नयी कविता से उनका कोई विरोध नहीं रहा।

आज जिन कवियों को साहित्य में गौरव प्रदान किया जाता है और नयी कविता को कीर्ति पुरुष माना जाता है वे नयी कविता से निरन्तर जुड़े रहे हैं। इसका श्रेय नयी कविता आन्दोलन को मिले तो उचित ही होगा।

—जगदीश गुप्त

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

नयी कविता : रचना पक्ष

(खण्ड दो)

नयी कविता : रचना पक्ष

(खण्ड दो)

सम्पादन

जगदीश गुप्त
रामस्वरूप चतुर्वेदी • विजयदेवनारायण साही

लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1

लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-1 द्वारा प्रकाशित

❖

प्रथम संस्करण : 2000

❖

लेज़र-टाइपसेटिंग
प्रिन्टेक, इलाहाबाद-3

❖

इण्डियन प्रेस प्रा० लिमिटेड
इलाहाबाद-1 द्वारा मुद्रित

मूल्य : 250.00

भूमिका

नयी कविता के दूसरे खण्ड में परिचय, सव्याख्या, संचयन, अनुवाद, परिचर्चा तथा सम्पादकीय आदि सभी स्तम्भ समाहित हैं। विचार-बिन्दु के रूप में महादेवी वर्मा, दिंनकर और सुन्दरम् के विचार नयी कविता की प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं। 'अर्थ की लय' शीर्षक मेरा लेख पर्याप्त विवादास्पद सिद्ध हुआ। मेरी धारणा यही रही है कि साहित्य का तात्पर्य शब्द और अर्थ का साहित्य ही है—'हितेन सहितं' भी साहित्य की व्याख्या का आधार माना जाता है, किन्तु मेरी दृष्टि में वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि शब्द और अर्थ की अन्विति। प्रारम्भ से मेरी यह दृष्टि रही है कि नवीनता भारतीय सौन्दर्यबोध का निर्णायक तत्व रहा है। पूर्णिमा से अधिक द्वितीया का चन्द्र महत्व रखता है, क्योंकि वह विकास का द्योतक है जबकि पूर्णिमा के बाद ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। तुलसी का यह दोहा मुझे सटीक लगता है—

सम प्रकाश तम पाक दुहुँ, नाम भेद बिधि कीन्ह।
ससि शोषक पोषक निरखि, जग जस अपजस दीन्ह॥

इसका आशय यही है कि कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष में मूलत: कोई अन्तर नहीं है। प्रकाश और अन्धकार दोनों में समान रूप से मिलता है, किन्तु एक में विकासात्मक दृष्टि में मिलती है तो दूसरे में ह्रासोन्मुखी। नयी कविता में नवीनता की धारणा तात्विक है, क्योंकि वह परम्परा का निषेध न करते हुए भी नवीनता पर बल देती है। कवि की प्रतिभा प्राचीनता को भी नयी दीप्ति देती है और नया अर्थ भी। उद्भावना प्रेरणात्मक रूप ग्रहण करके युगान्तरकारी शक्ति अर्जित करती है। कवि को अपनी सार्थकता इसी क्रम में नवीनता का अनुभव कराती है।

मैंने भारत की समस्त भाषाओं में नयी कविता को रेखांकित करना चाहा है। इसीलिए प्रभाकर माचवे का लेख ''भारतीय भाषाओं में नयी कविता कुछ नोट्स'' प्रकाशित किया है। इसका प्रभाव बहुत दूर तक सकारात्मक सिद्ध हुआ। ''नयी कविता और पौराणिक प्रतीक'' मलयज का लेख एक ऐसी दिशा है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रतीकों का अर्थ निरन्तर बदलता रहता है। वह कभी जड़ नहीं हो पाता, नहीं तो उसकी प्रतीकात्मकता निरर्थक हो जाती। आज के युग में पुराण की जगह 'मिथ' और 'मिथक' शब्द अधिक प्रेरक लगते हैं।

''नयी कविता एक ऐतिहासिक अनिवार्यता'' जितेन्द्र नाथ पाठक का विस्तृत लेख भी गम्भीर चिन्तन का द्योतक है। इस खण्ड में सबसे अत्यधिक महत्वपूर्ण लेख विजयदेवनारायण साही का है जिन्होंने 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक

बहस : छायावाद से अज्ञेय तक' पूरे परिदृश्य को समेटता है। नयी कविता के संयुक्तांक में 58 पृष्ठ का यह लेख नयी कविता की एक उपलब्धि माना जाता है। लघुमानव को लक्ष्मीकान्त वर्माजी ने भी विचार का केन्द्र माना है और उन दिनों लिटिल मैन के रूप में इसमें बाहरी प्रभाव भी देखा गया है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैंने लघुमानव की अपेक्षा सहज मानव को अधिक महत्व दिया है। मैं मानता हूँ कि कबीर द्वारा प्रयुक्त 'सहज' शब्द ठीक वही अर्थ नहीं देता है जितने आज के युग में, किन्तु लघुता की अपेक्षा वह आज भी मुझे ग्राह्य है। आज की कविता में लौकिक धरातल वैसा नहीं है जैसा कबीर के आध्यात्मिक धरातल से सूचित होता है।

परिचय स्तम्भ में मैंने मलयज और विपिन कुमार अग्रवाल को समाहित किया। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने मलयज की कविता को महत्व देकर सिद्ध किया है कि यह कवि चिन्तनशील प्रवृत्ति का है। इसी तरह डॉ० रघुवंश ने विपिन कुमार अग्रवाल की प्रयोगशीलता और वैज्ञानिक तटस्थता को विशेष महत्व दिया है। कविता में ऐसी स्थिति बहुत कम मिलती है जैसी विपिन की कविताओं और चित्रों में दृष्टिगत होती है। इलाहाबाद में नयी कविता के साथ नयी चित्रकला का आन्दोलन भी परिमल के द्वारा प्रेरित हुआ। बैमुलीस नामक रेस्ट्राँ में मेरी, विपिन की और लक्ष्मीकान्त वर्मा की सम्मिलित प्रदर्शनी आयोजित हुई थी जिस पर जितेन्द्र सिंह तथा भारती ने लीडर में विशेष विचार व्यक्त किये। एक प्रकार से वह नवीनता का ही प्रसार था।

सव्याख्या के अन्तर्गत शमशेर बहादुर सिंह और कुँवरनारायण की सव्याख्या सहित कविताएँ प्रस्तुत की गयीं जिसमें कवि को चयन की स्वतन्त्रता थी। 'उड़िया कविता में आधुनिकता' पर दृष्टिपात गोपालचन्द्र मिश्र का लेख था जिसका अनुवाद नित्यानन्द तिवारी ने किया था। नयी कविता के संयुक्तांक [5 और 6] में लक्ष्मीकान्त वर्मा की रचना 'पर्तों की आवाज' दृष्टव्य है। कुँवरनारायण की दो युद्ध कविताएँ, नरेश मेहता की ड्रेगन के नाम पाँच कविताएँ, लक्ष्मीकान्त वर्मा की तीन युद्धोत्तर कविताएँ और एक चौथी तथा श्रीराम वर्मा की तीन कविताएँ महत्वपूर्ण हैं।

परिचर्चा खण्ड में आधुनिक भाव-बोध : कुछ और विचार—'रामस्वरूप चतुर्वेदी' का लेख कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। वे आधुनिक चिन्तन के मान्य-चिन्तक रहे हैं। जहाँ तक मलयज का प्रश्न है आज वे दिवंगत हो गये हैं पर उनकी गम्भीर लेखनी आज भी प्रेरणा देती है। 'संक्रान्तिकालीन आधुनिकता' और 'आधुनिकता' में आधुनिकता की सामान्य धारणा और विशेष धारणा में अन्तर प्रदर्शित किया गया है। नित्यानन्द तिवारी ने आधुनिकता पर जो दृष्टि डाली है वह भी उपेक्षणीय नहीं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैंने सदा आधुनिकता को मानवीय दृष्टि से आकलित किया है। हमारे बीच विपिन कुमार विशेष अधिकारी माने जाते थे। अतः आधुनिकता पर उनका एक प्रारम्भिक निषेध वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि के कारण ग्राह्य है।

—जगदीश गुप्त

अनुक्रम

पृष्ठ

विशेष

सव्याख्या

परिचय

विशेष

अन्धा युग
(धर्मवीर भारती)

लेखक का नया दृश्य-काव्य 'अन्धा युग' कुछ ऐसी समस्याओं को उठाता है जो किसी भी युद्ध-सभ्यता में मानवीय मनोवृत्तियों, स्थितियों, मर्यादाओं और उनके पारस्परिक संघातों से उत्पन्न बाह्य और आन्तरिक संकटों से सम्बद्ध होती हैं। उनके सफल परिवहन के लिये महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं का आश्रय लिया गया है। कथा कौरवों की अन्तिम पराजय की सन्ध्या से प्रारम्भ होती है और कृष्ण की मृत्यु तथा उसी क्षण कलियुग या 'अन्धा युग' के अवतरण में परिणत होती है। नाटक में पाँच अंक हैं तथा तीन अंकों के उपरान्त एक अन्तराल है। उनके शीर्षक क्रमश: इस प्रकार हैं—कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्ध-सत्य, पंख, पहिये और पट्टियाँ, विजय, एक क्रमिक आत्महत्या तथा प्रभु का अवसान। ये छ: शीर्षक-कथा विकास तथा मानवीय मर्यादा की सापेक्ष स्थिति को सूचित करते हैं।

प्रथम अंक में, जो यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, केवल धृतराष्ट्र, विदुर, गांधारी, याचक और दो प्रहरी आते हैं। अश्वत्थामा जिसने पराजय के बाद पाण्डव शिविर का संहार किया, परीक्षित पर ब्रह्मास्त्र छोड़ा, कृष्ण के शाप से जिसे कुष्टग्रस्त अमरत्व मिला, युयुत्सु जिसने दुर्योधन का बन्धु होकर भी पाण्डवों का पक्ष लिया, संजय जो समस्त युद्ध में तटस्थ रहा, किन्तु युद्ध के बाद ही जिसने अपनी दिव्य दृष्टि खो दी, कृष्ण जो निशस्त्र रह कर भी सारे युद्ध का संचालन करते रहे और परीक्षित की रक्षा करके भी गान्धारी के शाप से मृत्यु को प्राप्त हुए, ये पात्र और परिस्थितियाँ आगे के अंकों में चित्रित हुए हैं।

इस विस्तृत काव्य में इतने पात्रों और परिस्थितियों द्वारा मानवीय सत्य की जिन सापेक्ष परिवेशों, विभाजित या खण्डित और कहीं कहीं विकलांग अवस्थाओं में चित्रित कर, ह्रासोन्मुख नैतिक मानदण्डों के बीच जिस उदीयमान मर्यादा की स्थापना की गई है, उसका विवेचन यहाँ करना कठिन है। वास्तव में उसको विवेचनात्मक दृष्टिकोण से उठाया ही नहीं गया है। इस काव्य में वह सत्य, वे परिवेश, वे स्थितियाँ पूर्णत: मानवीय हैं। इसलिए उनको रागात्मक स्तर पर ही चित्रित किया जा सकता है, और रागात्मिका वृत्ति के द्वारा ही वे ग्रहणीय भी हैं, यद्यपि उसके लिये भी भावक का रागबोध विकसित और सुरुचिपूर्ण तो होना ही चाहिये।

नयी कविता न तो परम्परा की अन्ध पूजा करती है और न उसके विरुद्ध हीन-ग्रथि-युक्त निरर्थक विद्रोह। वह परम्परा को आत्मसात् कर उसे नये स्तर पर प्रतिष्ठित

करती है, नयी दिशा में मोड़ती है। जिस नये रागबोध को लेकर हिन्दी की नयी कविता अग्रसर हो रही है, व्यास उसके सबसे निकट पड़ते हैं। उन्होंने प्रथम बार मनुष्य को उसके समग्र परिवेश में आँका था और विस्तृत किन्तु जटिल युगपीठिका में मनुष्य के राग-द्वेष का एक विराट मानचित्र समुपस्थित किया था। मानवीय सत्य किसी विशेष बिन्दु पर 'एक' और 'अविभाज्य' होता है। उसे अतीत, वर्तमान और भविष्य में नहीं बाँटा जा सकता। अतीत, वर्तमान और भविष्य एक दूसरे में प्रसुप्त हैं और इस प्रकार समस्त इतिहास एक प्रकार से समकालीन इतिहास है। काव्य मानवीय सत्य और ऐतिहासिक परिवेश को उसी विशेष बिन्दु पर पकड़ने का प्रयास करता है। प्रस्तुत दृश्य-काव्य जिस सीमा तक यह कर पाया है उसी सीमा तक सफल माना जा सकेगा।

पूछा जा सकता है इस काव्य-कृति में ये प्रश्न उठाये ही गये हैं या इनका कोई उत्तर, कोई समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। इस सम्बन्ध में कवि का निवेदन मात्र इतना है कि मानवीय सत्य प्रश्न और उत्तर में भी विभाजित नहीं है। वह एक अविभाज्य इकाई है जिसमें प्रश्नों में ही उत्तर निहित है और उत्तरों से प्रश्न उद्भूत होते हैं। इनकी द्वन्द्वात्मक गति ही सापेक्ष सत्य को गतिशील बनाती है। मानवीय आचरण में यह विषमता अपनी सार्थकता को प्राप्त होती है और इतिहास को मनोवांछित दिशा में बदल पाने में समर्थ सिद्ध होती है। उसी आचरण में भविष्य बीज रूप में निहित रहता है। इसीलिए कृष्ण जो मानवीय आचरण की जटिलतम मर्यादा के मर्मज्ञ थे, इस दृश्य-काव्य के केन्द्रस्थ पात्र हैं जो सभी पात्रों और परिस्थितियों पर छाये रहते हैं, यद्यपि शिल्प में इतना कौशल अवश्य बरता गया है कि वे सशरीर मंच पर नहीं आते।

शिल्प की दृष्टि से इस काव्यकृति में छन्दबद्ध गेय पदों से लेकर वृत्त-गन्धी गद्य तक का उपयोग हुआ है। अंक-परिवर्तन तथा दृश्य-परिवर्तनों के बीच कथाक्रम जोड़ने के लिये नेपथ्य से कथागायन की योजना की गई है। प्रारम्भ में 'स्थापना' और अन्त में 'समापन' प्राचीन पद्धति को नये रूप में प्रस्तुत करता है। स्थापना में नान्दी पाठ के उपरान्त 'विष्णु-पुराण' के वे अंश पढ़े जाते हैं जिनमें भावी युग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय सारी धरती का क्षय होगा, धर्म और अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे, अभिजन वे ही माने जायेंगे जिनके पास पूँजी होगी, महत्व उन्हें मिलेगा जो कपटवेश धारण करेंगे—और उसके बाद काव्य की पृष्ठभूमि की परिचायक पंक्तियाँ पढ़ी जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :—

युद्धोपरान्त
यह अन्धायुग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ
सब विकृत हैं

है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में
सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का
वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त
पर शेष अधिकतर हैं
अन्धे, पथभ्रष्ट, आत्महारा विगलित्—
यह कथा उन्हीं अन्धों की है:
या कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से।

—इसके बाद प्रथम अंक प्रारंभ होता है।

प्रथम अंक
कौरव-नगरी

[तीन बार तूर्यनाद के उपरान्त नेपथ्य से कथा-गायन]

टुकड़े टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा!
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है,
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा!
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है?
क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है!
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा—
दोनों ही पक्षों में जीता अन्धापन!
भय का अन्धापन, ममता का अन्धापन
अधिकारों का अन्धापन जीत गया
जो कुछ सुन्दर था शुभ था कोमलतम था
वह हार गया, द्वापर युग बीत गया!
[पर्दा उठने लगता है]
यह महायुद्ध के अन्तिम दिन की सन्ध्या
है छाई चारों ओर उदासी गहरी
कौरव के महलों का सूना गलियारा
हैं घूम रहे केवल दो बूढ़े प्रहरी!

[पर्दा खुलने पर स्टेज खाली। बरछे और ढालें लिये दो प्रहरी विंग्स में से निकल कर यन्त्रपरिचालित गति से दाएँ से बाएँ स्टेज के आरपार चलते रहते हैं।]

प्रहरी १ : थके हुए हैं हम
पर घूम घूम पहरा देते हैं
इस सूने गलियारे में

प्रहरी २ : सूने गलियारे में!
जिसके इन रत्नजटित फर्शों पर
कौरव वधुएँ
मन्थर मन्थर गति से
सुरभित पवन तरंगों सी चलती थीं
आज वे विधवा हैं!

प्रहरी १ : थके हुए हैं हम,
इसलिए नहीं कि कहीं युद्धों में
हमने भी बाहुबल दिखाया है
प्रहरी थे हम केवल
सत्रह दिनों के लोमहर्षक संग्राम में
भाले हमारे ये
ढालें हमारी ये
निरर्थक पड़ी रहीं, अंगों पर बोझ बनी :
रक्षक थे हम
लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ!

प्रहरी २ : रक्षणीय कुछ भी नहीं था यहाँ!
संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अन्धे की
जिसकी सन्तानों ने महायुद्ध घोषित किये!
जिसके अन्धेपन में मर्यादा
गलित अंग वेश्या सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी!
उस अन्धी संस्कृति
उस रोगी मर्यादा की रक्षा हम करते रहे
सत्रह दिन!

प्रहरी १ : जिसने अब हमको थका डाला है

मेहनत हमारी निरर्थक थी,
आस्था का
साहस का
श्रम का
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था, कुछ भी अर्थ नहीं था

प्रहरी २ : अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था
जीवन के अर्थहीन सूने गलियारे में
पहरा दे देकर अब थके हुए हैं हम
अब चुके हुए हैं हम!

[इसके बाद प्रहरी चुप होकर स्टेज पर टहलने लगते हैं। धीरे-धीरे प्रकाश कम होने लगता है। नेपथ्य से आँधी की सी ध्वनि आती है उनमें से एक कान लगाकर सुनता है, दूसरा भौहों पर हाथ रख कर आकाश की ओर देखता है।]

प्रहरी १ : सुनते हो?
कैसी है ध्वनि
यह भयावह!

प्रहरी २ : सहसा अन्धियारा क्यों होने लगा
देखो तो
दीख रहा है कुछ

प्रहरी १ : अन्धे राजा की प्रजा कहाँ तक देखे!
हाँ, शायद बादल है....

प्रहरी २ : *[आकुल होकर]*
बादल नहीं हैं
ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों पाँखें खोले

प्रहरी १ : लो सारी कौरव नगरी का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया!

प्रहरी २ : झुक जाओ, झुक जाओ
ढालों के नीचे छिप जाओ

नरभक्षी हैं ये गिद्ध भूखे हैं!

प्रहरी १ : लो ये मुड़ गये कुरुक्षेत्र की दिशा में

प्रहरी २ : निश्चय हुआ है
भयानक संहार
आज!

प्रहरी १ : उठो,
आसमान साफ़ हो गया!

प्रहरी २ : मौत जैसे ऊपर से निकल गई!

प्रहरी १ : अशकुन है भयानक यह
पता नहीं कल तक
क्या होगा इस नगरी में

[दाईं ओर से विदुर का प्रवेश प्रहरी सचेत हो जाते हैं।]

प्रहरी १ : कौन है?

विदुर : मै हूँ विदुर
देखा, धृतराष्ट्र ने देखा
यह भयानक दृश्य?

प्रहरी २ : पता नहीं

प्रहरी १ : देखेंगे कैसे वे
अन्धे हैं?
कुछ भी क्या देख सके अब तक वे?

विदुर : मिलूँगा उनसे मैं
अशकुन भयानक है
पता नहीं संजय क्या समाचार लायें आज?

[विदुर अपने स्थान पर खड़े रहते हैं। प्रहरी विंग में चले जाते हैं। पीछे का पर्दा खुलकर अन्त:पुर का दृश्य आ जाता है।]

नेपथ्य से कथागायन

है कुरुक्षेत्र से कुछ भी खबर न आई
जीता या हारा बचा-खुचा कौरव-दल
जाने किसकी लोथों पर जा उतरेगा
यह नरभक्षी गिद्धों का भूखा बादल
अन्त:पुर में मरघट की सी ख़ामोशी
कृश गान्धारी बैठी है शीश झुकाए

सिंहासन पर धृतराष्ट्र मौन बैठे हैं
संज़य अब तक कुछ भी संवाद न लाए

[पर्दा उठकर अन्त:पुर का दृश्य। गान्धारी आँखों में पट्टी बाँधे चौकी पर बैठी हैं। अन्धे धृतराष्ट्र एक छोटे से सिंहासन पर। विदुर आगे बढ़ते हैं।]

धृतराष्ट्र : कौन संजय?

विदुर : नहीं,
विदुर हूँ महाराज!
विह्वल है सारा नगर आज
बचे-खुचे जो भी दस बीस लोग
कौरव-नगरी में हैं
नगरद्वार पर जाकर
अपलक नेत्रों से
कर रहे प्रतीक्षा हैं संजय की!
महाराज चुप क्यों हैं
इतने आप?

धृतराष्ट्र : विदुर!
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है!

विदुर : आशंका?
आपको जो व्यापी है आज
वर्षों पहले वह
हिला गई थी सबको :

धृतराष्ट्र : पहले पर तुमने
यह कभी नहीं कहा विदुर!

विदुर : भीष्म ने कहा था
गुरु द्रोण ने कहा था
इसी अन्त:पुर में
आकर कृष्ण ने कहा था!
मर्यादा मत तोड़ो
तोड़ी हुई मर्यादा

कुचले हुए अजगर सी
गुंजलिका में कौरव वंश-को
लपेटकर सूखी लकड़ी सा
तोड़ डालेगी!

धृतराष्ट्र : समझ नहीं सकते हो विदुर तुम!
मैं था जन्मान्ध,
कैसे कर सकता था ग्रहण
मैं बाहरी यथार्थ या
सामाजिक मर्यादा को!

विदुर : जैसे संसार को किया था ग्रहण
आपने,
अपने अन्धेपन के बावजूद!

धृतराष्ट्र : पर वह संसार स्वत:
मेरे अन्धेपन से उपजा था!
मैंने अपने ही वैयक्तिक सम्वेदन से
जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिये वस्तुजगत!
इन्द्रजाल की माया-सृष्टि के समान
घने गहरे अँधियारे में
एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित।
मेरी सब वृत्तियाँ
उसी से परिचालित थीं
मेरा स्नेह, मेरी घृणा, मेरी नीति, मेरा धर्म
बिल्कुल मेरा ही वैयक्तिक था!
उसमें नैतिकता का कोई बाह्य
मानदण्ड था ही नहीं!
कौरव जो मेरी मांसलता से उपजे थे
वे ही थे अन्तिम सत्य
मेरी ममता ही वहाँ नीति थी
मर्यादा थी!

विदुर : पहले ही दिन से किन्तु
आप का वह अन्तिम सत्य
कौरवों का सैनिक बल
होने लगा था सिद्ध झूठा और शक्तिहीन!
पिछले सत्रह दिन से
एक-एक कर
पूरे वंश के विनाश का संवाद आप
सुनते रहे!

धृतराष्ट्र : मेरे लिये वे संवाद सब निरर्थक थे
मैं हूँ जन्मांध
केवल सुन ही तो सकता हूँ
संजय मुझे देते हैं केवल शब्द
उन शब्दों से जो आकार चित्र बनते हैं
उनसे मैं अब तक अपरिचित हूँ!
कल्पित कर सकता नहीं
कैसे दुःशासन की आहत छाती से
रक्त उबल रहा होगा
कैसे क्रूर भीम ने अंजुली में धार उसे
ओठ तर किये होंगे!

गान्धारी : *[सहसा विह्वल होकर]*
महाराज,
मत दोहरायें वह
सह नहीं पाऊँगी!
[सब क्षण भर चुप रहते हैं]

धृतराष्ट्र : आज मुझे भान हुआ,
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ!
सहसा यह लगा कोई बाँध टूट गया है
कोटि कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को

लहरों की विषमय
जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अन्तर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चिन्त किन्तु ज्ञानहीन आस्थाएँ!

विदुर : यह जो पीड़ा ने
पराजय ने दिया है ज्ञान
दृढ़ता ही देगा वह!

धृतराष्ट्र : किन्तु इस ज्ञान ने
भय ही दिया है विदुर!
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है!
जैसे किसी
अन्धी गुफा में
कोई घायल सिंह
आर्तनाद करता हुआ घुस आये
तीखे पंजों से चट्टानें खरोंचे
दहाड़े
और हाँफ हाँफ दम तोड़े
उसी तरह मेरे
अन्धे मन के गह्वर में
वाणों से बिंधा हुआ
बर्बर भय समाया है!

विदुर : भय है तो
ज्ञान है अधूरा अभी।
प्रभु ने कहा था यह—
ज्ञान जो समर्पित नहीं है
अधूरा है।
मनोबुद्धि तुम अर्पित कर दो
मुझे!

भय से मुक्त होकर
तुम प्राप्त मुझे ही होगे
इसमें सन्देह नहीं!

गान्धारी : *[आवेश से]*
इसमें सन्देह है
और किसी को मत हो
मुझको है।
अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि
उसने कहा है यह
जिसने पितामह के बाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबुद्धि खो दी थी!
उसने कहा है यह
जिसने मर्यादा को तोड़ा है बार-बार

धृतराष्ट्र : शान्त रहो
शान्त रहो
गान्धारी शान्त रहो।
दोष किसी को मत दो
अन्धा था मैं.....

गान्धारी : लेकिन अन्धी नहीं थी मैं
मैंने यह बाहर का वस्तुजगत
अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा
यह सब है केवल आडम्बर मात्र
मैंने यह बार-बार देखा था
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आये हैं सदा
हम सब के मन में कहीं एक अन्ध गह्वर है
बर्बर पशु, अन्धा पशु वास वहीं करता है,
स्वामी जो हमारे विवेक का;

नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति, कृष्णार्पण
यह सब हैं अन्धी प्रवृत्तियों की पोशाकें
जिनमें कटे कपड़ों की आँखें सिली रहती हैं
मुझको इस झूठे आडम्बर से नफरत थी
इसीलिए स्वेच्छा से मैंने इन आँखों
पर पट्टी चढ़ा रक्खी थी!

विदुर : कटु हो गई हो तुम
गान्धारी!
पुत्रशोक ने तुमको अन्दर से
जर्जर कर डाला है
तुम्हीं ने कहा था
दुर्योधन से .....

गान्धारी : मैंने कहा था दुर्योधन से
धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख
उधर जय होगी!
धर्म किसी ओर नहीं था लेकिन....
सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित
जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया!
वंचक है!

धृतराष्ट्र : शान्त रहो गान्धारी

विदुर : यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है।
क्षमा करो प्रभु।
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो?
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?
क्षमा करो प्रभु
पुत्रशोक से जर्जर माता है गान्धारी!

गान्धारी : माता मत कहो मुझे
तुम जिसको कहते हो प्रभु
वह भी मुझे माता ही कहता है!
शब्द यह जलते हुए लोहे की सलाखों सा
मेरी पसलियों में धँसता है।
सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक एक कर मारे गये
अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों की वधुओं
की कलाई से चूड़ियाँ उतारी हैं
अपने इस आँचल से
सेन्दुर की रेखाएँ पोंछी हैं.....
[नेपथ्य से]

जय हो
दुर्योधन की जय हो!
गान्धारी की जय हो!
मंगल हो
नरपति धृतराष्ट्र का मंगल हो!

धृतराष्ट्र : देखो
विदुर देखो संजय आये!

गान्धारी : जीत गया
मेरा पुत्र दुर्योधन
मैंने कहा था
वह जीतेगा निश्चय आज

प्रहरी : याचक है महाराज!
एक वृद्ध याचक है!
[वृद्ध याचक प्रवेश करता है]

विदुर : याचक हो तुम?
उन्नत ललाट
श्वेतकेशी
आजानुबाहु

याचक : मैं वह भविष्य हूँ
जो झूठा सिद्ध हुआ आज
कौरव की नगरी में!
मैंने मापा था, नक्षत्रों की गति को
उतारा था अंकों में
मैंने रहस्यमय विराट शक्तियों से
मानव नियति के
अलिखित अक्षर जाँचे थे!
मैं था ज्योतिषी दूर देश का!

धृतराष्ट्र : याद मुझे आता है
तुमने कहा था द्वन्द्व अनिवार्य है
क्योंकि उससे ही जय होगी कौरव दल की

विदुर : ठीक!
इंगित पर तुम्हारे ही कहा था
दुर्योधन ने
सुई की नोक के बराबर भी भूमि
नहीं दूँगा युधिष्ठिर को
बिना युद्ध

याचक : मैं हूँ वही!
आज मेरा विज्ञान सब मिथ्या ही सिद्ध हुआ।
सहसा एक व्यक्ति
ऐसा आया जो सारे नक्षत्रों की
गति से भी ज्यादा शक्तिशाली था
उसने रणभूमि में
विषादग्रस्त अर्जुन से कहा :—
''मैं हूँ परात्पर!
जो कहता हूँ करो
सत्य जीतेगा
मुझसे लो सत्य मत डरो।''

विदुर : प्रभु थे वे

गान्धारी : कभी नहीं!

विदुर : उनकी गति में ही
समाहित है सारे इतिहासों की
सारे नक्षत्रों की दैवी गति!

याचक : पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किन्तु उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्वनिर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता

गान्धारी : *[उतार कर माला देती है]*
तुमने कहा है
जय होगी दुर्योधन की।

याचक : मैं तो हूँ झूठा भविष्य मात्र
मेरे शब्दों का
इस वर्तमान में कोई मूल्य नहीं
मेरे जैसे जाने कितने झूठे भविष्य
ध्वस्त स्वप्न
गलित तत्व
बिखरे हैं कौरव की नगरी में
गली गली
माता हैं गान्धारी
ममता में पाल रही हैं सबको!
जय हो दुर्योधन की
जय हो गान्धारी की!
[जाता है]

गान्धारी : होगी
अवश्य होगी जय
मेरी यह आशा यदि अन्धी हो तो हो
पर जीतेगा, दुर्योधन जीतेगा!
[प्रहरी आकर दीप जलाते हैं]

विदुर : डूब गया दिन

धृतराष्ट्र :, पर संजय नहीं आये

विदुर : लौट गये होंगे सब योद्धा
अब शिविरों में
जीता कौन
हारा कौन

धृतराष्ट्र : संशय इसी का है

विदुर : महाराज!
संशय मत करें.
संजय जो समाचार लायेंगे शुभ होगा
माता अब जाकर विश्राम करें
नगर-द्वार अपलक खुले ही हैं
संजय के रथ की प्रतीक्षा में!
[गान्धारी उठती है। धृतराष्ट्र को लेकर जाती है। आगे का पर्दा गिरकर पुन: गलियारे का दृश्य आता है और दोनों प्रहरी विंग्स से निकल कर पूर्ववत् टहलने लगते हैं]

प्रहरी १ : मर्यादा ....

प्रहरी २ : अनास्था....

प्रहरी १ : पुत्र शोक....

प्रहरी २ : भविष्यत्....

प्रहरी १ : ये सब राजाओं के जीवन की शोभा हैं

प्रहरी २ : वे जिनको ये सब प्रभु कहते हैं
इस सबको अपने ही जिम्मे ले लेते हैं

प्रहरी १ : पर यह जो हम दोनों का जीवन
सूने गलियारे में बीत गया
कौन इसे अपने जिम्मे लेगा?

प्रहरी २ : हमने मर्यादा का अतिक्रमण नहीं किया
क्योंकि नहीं थी
अपनी कोई भी मर्यादा

प्रहरी १ : हमको अनास्था ने कभी नहीं झकझोरा
क्योंकि नहीं थी अपनी
कोई भी गहन आस्था

प्रहरी २ : हमने झेला शोक

प्रहरी १ : जाना नहीं कोइ दर्द

प्रहरी २ : सूने गलियारे सा सूना यह जीवन भी
बीत गया

प्रहरी १ : क्योंकि हम दास थे

प्रहरी २ : केवल वहन करते थे
आज्ञाएँ हम अन्धे राजा की

प्रहरी १ : इसीलिये सूने गलियारे में निरुद्देश्य
चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ

प्रहरी २ : मरने के बाद भी
यम के गलियारे में
चलते रहेंगे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ

[टहलते टहलते विंग में चले जाते हैं, स्टेज अन्धेरा होने लगता है]

पर्दा गिरते गिरते

कथा-गायन : नेपथ्य से

आसन्न पराजय वाली इस नगरी में
सब नष्ट हुई पद्धतियाँ धीमे धीमे

यह शाम पराजय की भय की संशय की
भर गये तिमिर से ये सूने गलियारे
जिनमें बूढ़ा झूठा भविष्य याचक सा
है भटक रहा टुकड़े को हाथ पसारे

अन्दर केवल दो बुझती लपटें बाकी
राजा के अन्धे दर्शन की बारीकी
या अन्धी आशा माता गान्धारी की

वह संजय जिसको यह वरदान मिला है
वह अमर रहेगा और तटस्थ रहेगा

जो दिव्य दृष्टि से जब देखे समझेगा
जो अन्धे राजा से सब सत्य कहेगा

जो मुक्त रहेगा ब्रह्मास्त्रों के भय से
जो मुक्त रहेगा उलझन से संशय से
वह संजय भी इस
मोहनिशा से घिर कर
है भटक रहा जाने
किस कंटक पथ पर

संजय तटस्थ द्रष्टा
शब्दों का शिल्पी है
पर वह भी भटक
गया असमंजस के वन में

दायित्व गहन, भाषा
अपूर्ण, श्रोता अन्धे
पर सत्य वही देगा
उनको संकट क्षण में

वह संजय भी इस
मोहनिशा से घिर कर
है भटक रहा जाने
किस कंटक पथ पर
(पटाक्षेप)[1]

---

1. 'अन्धा युग' से

कनुप्रिया

(धर्मवीर भारती)

[धर्मवीर भारती की नयी, अप्रकाशित कृति 'कनुप्रिया' का अन्तिम अंश]

1. एक प्रश्न

मेरे महान कनु
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि मेरे वे सारे तन्मयता के गहरे क्षण,
सिर्फ़ भावावेश थे,
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रँगे हुए, अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे—

मान लो कि
क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि पाप-पुण्य, धर्माधर्म, न्याय-दण्ड
क्षमा-शील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है
तो भी मैं क्या करूँ कनु
मैं तो वही हूँ
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला, जितना तुमने उसे दिया!

जितना तुमने मुझे दिया है अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी,
आसपास जाने कितना है तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ मुझे समझ नहीं आता है

अपनी जमुना में
जहाँ घण्टों अपने को निहारा करती थी मैं
वहाँ अब शस्त्रों से लदी हुई
अगणित नौकाओं की पंक्ति
रोज रोज कहाँ जाती है?

धारा में बह-बह कर आते हुए टूटे रथ
जर्जर पताकाएँ—किसकी हैं?

हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ
नभ को कँपाते हुए युद्ध घोष, क्रन्दन स्वर,
भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
अकल्पनीय, अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं?

चारों दिशाओं से
उत्तर को उड़-उड़ कर जाते हुए गृद्धों को
क्या तुम बुलाते हो
[जैसे बुलाते थे भटकी हुई गायों को]?

जितनी समझ तुमसे अब तक पाई है कनु
उतनी बटोर कर भी
कितना कुछ है जिसका
कोई भी अर्थ मुझे समझ नहीं आता है

अर्जुन की तरह कभी
मुझे भी समझा दो
सार्थकता है क्या बन्धु?

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रँगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे—
तो सार्थक फिर क्या है कनु?

2. शब्द-अर्थहीन

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु?

शब्द....शब्द....शब्द
मेरे लिये सब अर्थहीन हैं
यदि वे मेरे पास बैठ कर
मेरे रूखे कुन्तलों में उँगलियाँ उलझाये हुए
तुम्हारे काँपते अधरों से नहीं निकलते

शब्द....शब्द....शब्द
कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व
मैंने भी गली गली सुने हैं ये शब्द
अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो
मैं इन्हें सुन कर कुछ भी नहीं पाती मेरे प्रिय!
सिर्फ़ राह में ठिठक कर
तुम्हारे उन अधरों की कल्पना करती हूँ
जिनसे तुमने ये शब्द पहली बार कहे होंगे

—तुम्हारा साँवरा लहराता हुआ जिस्म
तुम्हारी किंचित मुड़ी हुई शंख-ग्रीवा
तुम्हारी उठी हुई चन्दन बाँहें
तुम्हारी अपने में डूबी हुई अधखुली दृष्टि
धीरे धीरे हिलते हुए तुम्हारे
जादू भरे होठ!

मैं कल्पना करती हूँ कि
अर्जुन की जगह मैं हूँ
और मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
और मैं नहीं जानती कि युद्ध कौन सा है

और मैं किसके पक्ष हूँ
समस्या क्या है
और लड़ाई किस बात की है

लेकिन मेरे मन में मोह उत्पन्न हो गया है
क्योंकि तुम्हारे द्वारा समझाया जाना
मुझे बहुत अच्छा लगता है

और सेनायें स्तब्ध खड़ी हैं
और इतिहास स्थगित हो गया है
और तुम मुझे समझा रहे हो

कर्म, स्वधर्म, निर्णय, दायित्व,
शब्द, शब्द, शब्द....
मेरे लिये नितान्त अर्थहीन हैं
मैं केवल अपलक तुम्हें देख रही हूँ
शब्द जाल के पार
बूँद बूँद तुम्हें पी रही हूँ
और तुम्हारा तेज
मेरे जिस्म के एक-एक मूर्छित सम्वेदन को
धधका रहा है

और तुम्हारे अधरों से
रजनीगन्धा के फूलों से टप टप शब्द झर रहे हैं
एक के बाद एक के बाद एक....

कर्म स्वधर्म निर्णय दायित्व
मुझ तक आते आते सब बदल गये हैं
मुझे केवल सुन पड़ता है
राधन, राधन्, राधन्

शब्द, शब्द, शब्द
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु, संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है—
मैं,
मैं,
केवल मैं!

फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु?

3. समुद्र-स्वप्न

जिसकी शेषशय्या पर
तुम्हारे पास युग युगांतर तक क्रीड़ा की है
आज उस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु!

लहरों के नीले अवगुण्ठन में
जहाँ सिन्दूरी गुलाब जैसा सूरज खिलता था
वहाँ सैकड़ों निष्फल सीपियाँ छटपटा रही हैं
—और तुम तटस्थ हो

मैंने देखा कि अगणित विक्षुब्ध विक्रान्त लहरें
फेन का शिरस्त्राण पहने,
सिवार का कवच धारण किये
निर्जीव मछलियों के धनुष लिये
युद्ध मुद्रा में आतुर हैं
—और तुम कभी मध्यस्थ हो
कभी तटस्थ, कभी युद्धरत

और मैंने देखा कि अन्त में तुम
थक कर
इस सबसे खिन्न, उदासीन, विस्मित और कुछ कुछ आहत
मेरे कन्धों से टिक कर बैठ गये हो

और तुम्हारी अनमनी भटकती उँगलियाँ
तट की गीली बालू पर
कभी कुछ कभी कुछ लिख देती हैं
किसी उपलब्धि को व्यक्त करने के अभिप्राय से नहीं
मात्र उँगलियों को ठण्डे जल में डुबोने का
क्षणिक सुख लेने के लिये!

आज उस समुद्र को मैंने स्वप्न में देखा कनु!

विषभरे फेन, मुरझाए सूर्य, निष्फल सीपियों, निर्जीव मछलियों
वाली लहरें नियन्त्रण हीन होती जा रही हैं
और तुम तट पर बाँहें उठा उठा कर कुछ कह रहे हो
पर तुम्हारी कोई नहीं सुनता, कोई नहीं सुनता....

अन्त में तुम हार कर, लौट कर, थक कर
मेरे वक्ष के गहराव में
अपना चौड़ा माथा रख कर
गहरी नींद में सो गये हो....

और मेरे वक्ष का गहराव
समुद्र में बहता हुआ बड़ा सा ताजा, क्वाँरा, मुलायम
गुलाबी बटपत्र बन गया है
जिस पर तुम छोटे से छौने की भाँति
लहरों के पालने में महाप्रलय के बाद सो रहे हो!

नींद में तुम्हारे होंठ धीरे धीरे हिलते हैं
''स्वधर्म! आखिर मेरे लिये स्वधर्म क्या है?''

और लहरें थपकी देकर तुम्हें सुलाती हैं
'सो जाओ योगिराज, निद्रा समाधि है'....
नींद में तुम्हारे होंठ

धीरे धीरे हिलते हैं
''न्याय-अन्याय, सद्असद्, विवेक अविवेक....
कसौटी क्या है?
आखिर कसौटी क्या है?''

और तुम्हारे माथे पर पसीना है
और होंठ काँप रहे हैं
और तुम चौंक कर जाग जाते हो
और तुम्हें कोई भी कसौटी नहीं मिलती
और जुए के पांसे की तरह तुम निर्णय को फेंक देते हो
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म

और यह सुनते ही लहरें
घायल साँपों सी लहर लेने लगती हैं
और प्रलय फिर शुरू हो जाता है

और तुम फिर उदास होकर किनारे बैठ जाते हो
और विषादपूर्ण दृष्टि से शून्य में देखते हुए
कहते हो—''और अगर उस दिन
दुर्योधन मेरे पैताने होता तो ....आह,
इस विराट समुद्र के किनारे ओ अर्जुन मैं भी
अबोध बालक हूँ!'

आज मैंने समुद्र को स्वप्न में देखा कनु!

जलदेवदारुओं में हवा बार बार कण्ठ खोल रही है
पर झकोरे गूँगे हैं
बैसाखियाँ लिये हुए इतिहास
बालू पर अपने पगचिह्न बना रहा है
तुम्हारे श्लोकों से अभिमन्त्रित गाण्डीव

गले हुए सिवार सा ऊपर उतरा आया है
और तुम उदास हो

और समुद्र के किनारे
नारियल के कुंज हैं
और तुम एक बूढ़े पीपल के नीचे चुपचाप बैठे हो
मौन परिशमित, विरक्त

और पहली बार जैसे तुम्हारी अक्षय तरुणाई पर
थकान छा रही है

और चारों ओर
एक खिन्न दृष्टि से देख कर
एक गहरी साँस लेकर
तुमने असफल इतिहास को
जीर्ण वसन की भाँति त्याग दिया है

और इस क्षण
केवल अपने में डूबे हुए
दर्द से पके हुए
तुम्हें बहुत दिन बाद मेरी याद आयी है

काँपती हुई दीप-लौ जैसे
पीपल के पत्ते एक एक कर बुझते जा रहे हैं
उतरता हुआ अँधियारा....

समुद्र की लहरें
अब तुम्हारी फैली हुई साँवरी शिथिल बाँहें हैं
भटकती सीपियाँ तुम्हारे काँपते अधर

और अब इस क्षण तुम
एक भरी हुई

पकी हुई
गहरी पुकार हो

सब त्याग कर
मेरे लिये भटकती हुई....

4. समाधान–गीत

तुमने उस वेला क्या मुझे बुलाया था कनु
लो मैं सब छोड़ छाड़ कर आ गयी!

इसीलिये तब मैं तुममें बूँद की तरह विलीन नहीं हुई थी
इसीलिये मैंने अस्वीकार कर दिया था
तुम्हारे गोलोक का कालावधिहीन रास

क्योंकि मुझे फिर आना था!

तुमने मुझे पुकारा था न
मैं आ गयी हूँ कनु
और जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ 'राजन्'
कि इस बार इतिहास बनाते समय तुम
अकेले न छूट जाओ!

सुनो मेरे प्यार!
प्रगाढ़ केलिक्षणों में अपनी अन्तरंग
सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
उसे इतिहास में गूँथने से हिचक क्यों गये प्रभु!

बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
तुम्हारे इतिहास का

शब्द....शब्द....शब्द
मेरे बिना
रक्त के प्यासे
अर्थहीन शब्द!

सुनो मेरे प्यार :
तुम्हें मेरी जरूरत थी न, लो मैं सब छोड़कर आ गयी हूँ
कि कोई यह न कहे
कि तुम्हारी अन्तरंग केलिसखी
केवल तुम्हारे साँवरे तन के नशीले संगीत की
लय बन कर रह गयी....
मैं आ गयी हूँ प्रिय!
मेरी वेणी में अग्नि-पुष्प गूँथने वाली
तुम्हारी अँगुलियाँ
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथती?

तुमने मुझे पुकारा था न!
मैं पगडण्डी के कठिनतम
मोड़ पर
तुम्हारी प्रतीक्षा में
अविचल खड़ी हूँ कनु मेरे!....

पर्तों की आवाज़

(लक्ष्मीकांत वर्मा)

[शीर्षक अप्रकाशित लम्बी रचना का मध्यवर्ती अंश]

प्रस्तुत पद्यांश मेरी रचना 'पर्तों की आवाज़' का एक खण्ड है।

जीवन को जिस भी रूप में मैंने स्वीकार किया है, वह अपने में पूर्ण नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी प्रस्तुत है, वह अविच्छिन्न नहीं है। हम उसे जिन भी व्यंग्यों, विपर्ययों और विरोधाभासों में जीते हैं, उन्हीं के माध्यम से हमें अनुभूति की उपलब्धि होती है। उपलब्धियों की विभिन्नता को मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु आरोपित अनुभूतियों का पुंजीभूत सत्य ही सत्य है, यह नहीं मान पाता। क्षण के दायित्व से लेकर उसको प्रसंगानुकूल भोग सकने की सामर्थ्य में जिन विविधताओं के दर्शन होते हैं, वे कई स्तर पर अनुशासित अभिव्यक्ति में बाधा पहुँचाते हैं। मैंने अपनी यह लम्बी कविता—लगभग 200 पृष्ठ के—लिखी और मेरे मित्रों ने उसे पढ़ा तो उनमें विचित्र प्रकार की प्रतिक्रियाएँ हुईं।

ऐसा क्यों है? इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। हो सकता है, मुझमें, जो शिल्प का कसाव अपेक्षित है, वह न हो। मैं मानता हूँ मैं सजग शिल्पी उस रूप में नहीं हूँ, जिस रूप में सत्य अनुभूति के बिना भी अवतरित होता है या मैं यह भी मानता हूँ कि 200 पृष्ठों के लिखने के बाद भी मैं सत्य न पकड़ पाया हूँ। फिर भी मुझमें अपनी इस कृति के प्रति कई कारणों से एक प्रकार का मोह वर्तमान है। पहला तो यह कि उसमें सम्पूर्ण वर्तमान जीवन को एक रील में देखने की चेष्टा मैंने की है और उस रील के भिन्न-भिन्न चित्र, जो जितनी शक्ति के साथ उभर कर आये हैं, उन्हें उसी प्रकार अपनी शक्ति और क्षमता के अनुसार मैंने प्रस्तुत किया है। यों तो पूरी 200 पृष्ठों की रचना को पढ़ने के बाद ही कुछ कहा जा सकता है, किन्तु फिर भी उस लम्बी रचना में से प्रस्तुत 'टूटी हुई कड़ियाँ' मैंने केवल इसलिये चुनी है, क्योंकि इसके पढ़ने में उतनी सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं है, जितनी शायद अन्य खण्डों के साथ आवश्यक है। मेरा अपना विचार है कि आधुनिक जीवन के विरोधाभास, विपर्यय और कटु अनुभवों के साथ-साथ जो मूल्यगत विघटन, इस युग में वर्तमान हैं; उनका संक्रमण इस अंश में अपने सारगर्भित मर्म के साथ उभर कर आया है। यदि इससे उस भयानक विघटन का अंश मात्र भी बोध हो सकेगा तो मैं समझूँगा कि कम से कम आंशिक रूप में ही सही, मेरा प्रयास सफलता की ओर रहा है।

कवि के व्यक्तित्व की छाप उसकी कविता पर पड़ना स्वाभाविक है। वर्तमान युग की असमर्थता का मैं साक्षी भी हूँ और भोक्ता भी। जब केवल देखने की समर्थता ही शेष बच जाती है और क्रियाशीलता में गतिरोध हो जाता है, तभी जीवन में आक्रोश, तिक्तता, व्यंग्य और उसके साथ-साथ कटुता के तत्व भी पनपते हैं। मैं मानता हूँ कि यह आक्रोश, यह तिक्तता, यह व्यंग्य और उसके साथ-साथ विरोधाभास के तत्वों ने कहीं मुझे आवश्यकता से अधिक कटु बना दिया है। लेकिन मैं अपनी उस स्वाभाविक कटुता को आरोपित उदात्त तत्व से एक कर नहीं रखना चाहता। आज इस क्षण के मेरे व्यक्तित्व का तत्व यदि कटुतापूर्ण है, यदि उसमें तथाकथित उदात्त तत्व नहीं है तो मैं यह मान सकता हूँ कि वह मेरी कमजोरी है, किन्तु मैं यह नहीं मान सकता कि संसार की समस्त अच्छी कृतियाँ उदात्त (sublime) का ही अनुभव है। कभी-कभी मुर्दा चेतना को दो-चार झटकों की आवश्यकता होती है। वस्तु-सत्य की कटुता से कतराना मैं कला के लिए घातक मानता हूँ। यदि आज के जीवन में ग़लाज़त है तो कहीं न कहीं हमें उसका सामना भी डट के करना चाहिए। उससे कतरा कर निकल जाना कला के दायित्व से चूकना होगा।

रचना-क्रम में छूट गई एक कड़ी का आह्वान

रुकें जरा, ठहरें आप
सुनें तो
लाश जो अभी-अभी इधर से गई है,
वह मेरी ही है।
उसे ले गये हैं दो सिपाही, दो नेता, दो संत और दो चोर
[मैं नहीं कहती कि यह सब एक ही हैं, लेकिन ये अलग-अलग भी नहीं—]
और मैं :
जो इन सब का पिष्टपेषण करती रही हूँ
इनसे छूट गई हूँ

अकेली—
मरघट लिए घुटती हूँ!

चिता मेरी जल गई है
लाश मेरी सुलग चुकी है
मेरा एक-एक अंश इन सब ने उलट-पुलट कर जला दिया है
लेकिन फिर भी मैं बच गई हूँ
सच मानो,

मैं भूत नहीं, प्रेत नहीं, उच्छिष्ट नहीं
एक रचना-क्रम की कड़ी हूँ
अन्तिम कड़ी
जो समूचे जंजीर के बढ़ते ठहराव से
चुपचाप रिस गई
छूट गई
टूट गई।

एक कमकर के टिफ़िन-कैरियर में पायी गयी महाभिनिष्क्रमण की गाथा

आज भी तुम उदास हो
सच प्रिय,
आज मैंने महाप्रभु के महाभिनिष्क्रमण की गाथा पढ़ी है
यशोधरा का चित्र आज ही मेरे सामने स्पष्ट हुआ है
आओ..........
मुझसे डरो नहीं
मैं हूँ तप:पूत, कामारि, प्रबुद्ध
सुनो!
मैं तुम्हें यशोधरा ही मानता हूँ।

तुमने जो राहुल को मेरा भक्त बना दिया प्रिय
और अपने रसहीन सोहाग को
जो बिना अनुभूति के यों ही दान दिया
मानता हूँ
तुम यशोधरा से भी बड़ी हो
और मेरा महाभिनिष्क्रमण
जो मिल की सायरेन के साथ मुँह अँधेरे ही हो जाता है
और तथागत-सा
जो मैं ओवर टाइम करके आधी रात वापस आता हूँ
ठण्डे चूल्हे और साफ चौके को देख
तुम्हारी वीतराग स्थिति पर मन ही मन
उपदेश देता हूँ—
"........................

....

......................''

और जब तुम भूख से कुड़मुड़ाती हुई करवट बदल कर
पेय स्तनों से राहुल का मुँह छुड़ा, दो तमाँचे चपाती-से
गालों पर उगा देती हो;

बिना शृंगार किये, अस्त-व्यस्त
जीर्ण स्नेह के क्षणों में भी
तुम मुझे यशोधरा सी-वियोगिनी
बिना लोरियों के जीने वाली
केवल यशोधरा लगती हो!

....

....

....

सच मानो
तुम्हारा यह अखण्ड विराग
और मेरा यह अखण्ड महाभिनिष्क्रमण
किसी मर्मान्तक आस्था से कम नहीं.........
''बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि।''

डेड लेटर ऑफिस की टोकरी में पाया गया एक गुमनाम का दूसरे गुमनाम के प्रति पत्र

प्रियम्वद!

जब से तुमने सँपेरे का पेशा अपनाया
कन्धों पर पिटारा रख देश-विदेश में
तुम साँप दिखाने गये
मैंने इस बीच जाने-अनजाने
कई जारज सँपोले जने
उन सब का नाम तुम्हारे नाम से सम्बद्ध है
[म्यूनिसिपल बोर्ड के मृत्यु और पैदाइश के रजिस्टर में उनके नाम के साथ तुम्हारा नाम दर्ज है]

मैं क्या करती प्रियम्वद
[फ़र्ज? फ़र्ज है]

तुम जीवित होगे कहीं न कहीं
किन्तु तुम्हारी आत्मा की शान्ति के लिए
मैंने तुम्हें स्वर्गीय ही लिखाया है
अन्यथा,
ये सँपोले उगते नहीं
बनिये की चीकट थैली में
सिक्के से खनकते-बजते ही रहते।

और सुनो प्रियम्वद!
यदि मैं तुम्हें मरा हुआ जानकर
इन सँपोलों को तन से बाहर न निकालती
तो ये जहर भरे नासूर से मेरे मर्मस्थल से टपक पड़ते
पृथ्वी क्षार-क्षार हो जाती
चारों ओर त्राहि-त्राहि मच जाती
[और मैं शान्ति व्यवसायी की पत्नी हूँ]
और तुम जो पिछले बारह साल से शान्ति स्थापित करने
युद्ध क्षेत्र में अड़ियल से डटे हो
और संगीनों का आलिंगन करते-करते
ख़ुद संगीन हो गये हो
अब तुम्हारा लौटना या न लौटना
दोनों अर्थहीन हैं
क्योंकि—
मैं आयुच्युत, यौवनच्युत और रूपहीन होकर भी
तुम्हारी ठण्डी संगीत की समता नहीं कर सकती
और न तुमको पा सकती हूँ
इसीलिए, तुम्हारी संतान के लिए
यह पत्र तुम्हें लिखती हूँ—
तुम जहाँ भी हो
स्वीकार करो..........

सरकारी अस्पताल में एक लावारिस लाश के सिरहाने टेम्प्रेचर चार्ट पर लिखा गया वक्तव्य

यह एक लावारिस मरीज कल बेहोशी के आलम में आया—
आया नहीं! लाया गया। *[लाया गया इसलिए कि वह खुद नहीं आ सकता था!]*

इसका रक्त चाप। चंचल! गतिमान!
मानसिक स्थिति। सन्निपात की है!
उठ कर भागता है!
'जीवन' कोई है जिससे यह तंग आकर
'मुक्ति' कोई है जिससे वह मिलना चाहता है!

नब्ज की रफ़्तार तेज है। उत्तेजक और तीव्र है!
देखने से आदमी लगता है, लेकिन मुद्राओं से अर्द्धविकसित।
इसीलिए यह अपना रोग खुद नहीं बता पाता।
यह जो कुछ बोलता है, गीता है। कुरान है। बाइबिल है।
लेकिन इसकी अपनी भाषा नहीं है!

एक्सरे और कार्डियोग्राम में एक जर्म पाया गया है!
आत्मा बड़ी तेजी से फैल रही है
''आत्म-लीन'' की स्थिति यानी कोमा में रहने के नाते
यह निद्रा-विरक्त है!
रक्त में सच्चाई का अंश अधिक है!
इन्क्योरेबुल!
क्योंकि सच्चाई के विषय में
मेडिकल राय हजारों वर्ष पुरानी है!
जीवन, मुक्ति, आत्मा
इन्फ़ेक्शन।
इन्फ़्लेटेड नोशन
[यह नर्सों को माँ कहता है]
×××
आत्मा एक सूक्ष्मतर छूत है
और यह लाश लावारिस है

और अन्वेषण एक सत्य है
सत्य लावारिस है!
डिस्चार्ज्ड...........
15-7-59

डायरी के पृष्ठ : सौन्दर्य-बोध—परचून की दुकान से प्राप्त!

तारीख़ पहली.............

..........................एक शीशी आल्ता
और एक टिकिया साबुन
और बम्बे के नीचे तुम्हारा नहाना
मुझे अच्छा लगा
तुम मुझे रसमयी लगीं
क्षण भर को मुझे सिनेमा का गीत याद आया
सिहिर-सिहर तन
कुछ सिहराया

तारीख़ सात............

...........................बारजे पर बैठा-बैठा
मैं देखता रहा
अपने ही आँगनहीन घर को
लगा कोई है, जो सुन्दर है
और इसीलिए
और पाण्डुरंगिणी
आज मैंने तुम्हें अपना अमित स्नेह दिया!

तारीख़ चौदह................

...........................ओ पाण्डुरंगिणी
तुम्हारे पीत कपोल, रक्तहीन देह पर
यह हल्दिया लेप
मैं नहीं जानता, कैसा है
....
....
आज तीसरा उपवास है
चलो, ख़ाली गिलास से गिलास टकरा

एक दूसरे के लिए नहीं
कला के लिए जियें!

तारीख़ इक्कीस....................

..........................एक-एक कर राशन के बर्तन उलटने लगे
खाली होने लगी सब की काया
....
....
तुम्हें आज मैंने फिर देखा
तुम लगीं मुझे बीते महीने की माया
उचटी, भीगी, बेलौस, टूटी और खोई
मेरे जी में बार-बार आया तुमसे कुछ कहूँ
लेकिन चाहते हुए भी जो नहीं कह पाया
तुम : उसी की मर्म हो!

तारीख़ उन्तीस....................

..........................ओ पाण्डुरंगिणी
आज की वितृष्णा, विपर्यय के बीच
मैं तुम्हें नहीं पा रहा हूँ
इसीलिए मैंने आज कच्ची शराब नहीं पी
लेकिन फिर भी झूमता हुआ घर आया हूँ
आज मैं चक्रव्यूह के तोड़ने की अन्तिम गाथा कहूँगा
अभिमन्यु से कहो—अभी न जन्मे!

तारीख़ इकतीस....................

..........................आगे रद्दी अख़बार बेचकर
हमने चाय पी
ओ-ओ-ओ.......ओ भोग-कामी
यह पृष्ठ भी मूल्यवान है
इसे भी पसंघे में बेंच दो।

एक फ़ेमिली बजट : अपूर्ण आत्म-काव्य!

कुछ घरेलू नोट्स

इस उधार-खाते में क़र्ज़ पाटना मुश्किल है
ऋणी हूँ पिता का, जिसने शरीर दिया है, आत्मा नहीं

[किन्तु जिसका आग्रह आत्म ही पर है, जीवन पर नहीं]

माता की गोद का शृंगार हूँ

[शृंगार स्वर्गीया माता साथ ले गई]

अब मैं अवशिष्ट हूँ।

भाई हूँ, किन्तु अपने-अपने रक्त पर विश्वास कर

हमने एक दूसरे का सिर फोड़ा है

पति हूँ, इसीलिए गृहस्थी का काम-काज पत्नी करती है

[मैं केवल थकता हूँ]

दोस्त हूँ, ताकि कभी एक आने का पान खिला कर देख सकूँ

[कब दोस्त खिलाता है]

दुश्मन हूँ, क्योंकि ऐसा गृहपति हूँ, जो आबी बताशों के पहियों पर

परिवार भार चला रहा है।

परिवार चल रहा है। मैं स्थिर हूँ।

जो नहीं पूरा हुआ

शिक्षा : वज़ीफ़े, विद्यार्थी सहायता कोष और दाता की मर्ज़ी पर टिकाऊ नहीं रहा।

दवा : मैंने इसलिए नहीं की क्योंकि जिन्दगी मेरी अनिवार्यता है। अभिरुचि नहीं।

भोजन : मैं केवल इसलिए नहीं खा सका क्योंकि जब-जब खाने बैठा कोई भूखा बनकर आया और ले गया।

व्यसन : जोंक को रक्त पिलाता रहा। अब वह भी नहीं रहा।

आत्म-हत्या का इरादा

किसी केमिस्ट ने पोटेशियम साइनाइड उधार नहीं दी

क़र्ज़े की अफ़ीम भी परमिट बिना नहीं मिली!

जो रोज पूरा होता है :

लंघन।

उल्लंघन।

खीझ।

आवेश।

अतिरेक।

कभी-कभी विवशता भी

स्वीकारोक्ति की चारुशीला

बहन होती है।

जिन्हें ख़रीद कर रख छोड़ा है :

धर्म का आडम्बर, जिन्हें बेड-रूम के फ़र्नीचर-सा मनोनुकूल बदल लेता हूँ।
सभ्यता के मुखौटे, श्री रेयन स्क्वायर का घिसा-घिसा रेशमी सूट
आत्मा के टूटे पुर्ज़ा साल्वेज में रख छोड़े हूँ। कभी-कभी उनका प्रयोग भी हो जाता है।
नैतिकता की क़लई अपने टूटे मूल्यों पर चढ़ा जीता हूँ।
मानवता का स्मेलिंग साल्ट : हर समय बेहोशी में भागता-दौड़ता सूँघ लेता हूँ।
अभी उधार-खाते की यह जिन्दगी जीता हूँ।

कॉफी-हाउस के एक इन्टेलेक्चुअल की बहस का सारांश

हम हैं इन्टेलेक्चुअल
हमसे ले लो विचार
एक नहीं, दस-बीस हजार।

हम से ले लो सपने
सपनों पर बने हुए सपने
और सपने ही सपने लगातार
पक्की न सही! बालू की दीवार।

संगीत?
हम क्या करें
हमें बाथ-रूम में ही संगीत याद आता है
हम खुल कर नहाते हैं
शावर बाथ की बूँदों में ही हमें
जाड़े में दाँत कटकटाने वाला संगीत याद आता है
एक लोटा ठण्डा जल
संगीत को उकसाने के लिए काफ़ी होता है
हमारा संगीत : हमारा ठण्डा संगीत
एक बूँद हाइड्रोजन परॉक्साइड
हमें बजबजा देता है। हम खुलकर गाने लगते हैं।

हम इन्टेलेक्चुअल हैं
हम दुनिया को चलाना बता सकते हैं
पर खुद नहीं चल सकते।
हम सारी दुनिया पर शासन कर सकते हैं
पर खुद अनुशासित नहीं हो सकते।

ओ!..............
अरे ओ, विपथगामियो,
हमें बिना चलाये तुम चलो
हमें बिना उठाये तुम उठो
हम तो इतिहास पढ़ते हैं, भूगोल लिखते हैं
दुनिया चाहे नारंगी की शकल की हो
चाहे हो चपटी
चाहे हो बैगननुमा : चाहे हो रपटी
हमें अॅथारिटी और ऑथर बनाओ
हम मुर्दा इतिहास को खड़ा कर लेंगे
हम ज़िन्दा भूगोल को दफ़न कर लेंगे
हम इन्टेलेक्चुअल हैं : हमसे ले लो विचार
हम सब पक्के न सही, हैं मगर बालू की दीवार।
अगर दुनिया में आग लगी हो, तो हमारे पास आओ
हम आग के आधारभूत तत्व गुण-दोष के साथ बतायेंगे
अगर दुनिया में प्लेग की महामारी है—तो हमारे पास आओ
हम चूहों की क़िस्में बतायेंगे
भीख माँगने के तरीक़ों से लेकर
दुनिया पर शासन करने के तरीक़े हम सब रोज़ बनाते-मिटाते हैं
सौ बार हम से ले लो विचार
और
ओ हमारे बन्धु, सखा, सहचर,
तुम विश्वास रक्खो
जब दुनिया एक भयंकर विभीषका में जल चुकेगी।
जब प्लेग के कीड़ों से आक्रान्त
सारा नगर श्मशान बन चुकेगा
तब जेब में एक शोक-प्रस्ताव लिये
हाथ में काली मातमी पट्टी बाँधे
हम आयेंगे।
कहेंगे नतमस्तक—आमीन!

दर्ज़ी की दुकान में पिछले कई वर्षों से पड़ी हुई शो-केस में क़ैद मूर्ति का वक्तव्य

आत्महीन शरीर सी मैं
इस शोकेस में पिछले कई वर्षों से पड़ी हूँ
जाने कितने वर्षातप, शरद की हवाएँ बेध गई होंगी हमें
हर लिबास मुझ पर खिलता है
लेकिन हर लिबास मैं नहीं पहनता
कोई हमें पहनाता है
....
....
....
लेकिन ये आवारे : जो ख़ाली जेब केवल दुकानों के शो केस देख-देखकर
अपना और अपने मित्रों का समय काटते हैं;
वे युवतियाँ : जो ज़ेराफ़ के रंग के धारीदार स्वेटर पहन
यूँ ही हर शो केस के पास खड़ी हुई अपने चेहरे के उड़े हुए पाउडर
ठीक करती हैं
वे बच्चे : जो गोली खेलते-खेलते शो केस के शीशे पर वार करना
चाहते हैं
मैं उन सब को देखता-देखता थक जाता हूँ।
ओ मेरे मध्यवर्गीय नायक
तुमसे अच्छे तो वे थे, जो केवल
एक कछनी और बाँसुरी लिये, प्रेम-योग, युद्ध सब कुछ कर जाते थे।
तुम किसी काम के न हुए
ओ मेरे आत्मा
तुम मध्यवर्गीय नायक क्यों हुए!
मेरी व्यंग्य स्थिति को कौन समझेगा
कौन जानेगा मेरा दर्द! मेरी वेदना! मेरी मर्मान्तक अनुकृति
मैं संभावना थी, जाने कितनी सभ्यताओं की
जाने कितने आलिंगनों से कम्पित
मैं केवल एक घुटन हूँ
शो केस मेरी मजबूरी है! व्यवस्था नहीं!

....

....

....

मुझमें और पुरातत्व विभाग के अन्तर्गत टेराकोटा में
अन्तर मात्र इतना है
मेरा वर्तमान अभी मेरे नायक की मुट्ठी में है
और जिरह-बख़्तर के नायक का वर्तमान
उसके हाथ से छूटा हुआ अतीत है
मैं इतिहास नायक हूँ!

होटेल की एक नेपकिन, जो अब इस्तेमाल नहीं होती

चाहो तो हमें इतिहास मानों
चाहो तो पुरातत्त्व,
चाहो तो संस्कृति की बेटी
चाहो तो सभ्यता की बहन...........
हम अभी-अभी गतिशील थीं
हर कप, प्लेट, सासर पर बिछी हुई
आदमी की गोद में लेटी, स्वच्छ, महाश्वेता!
हमारी जीर्ण काया
हमारा अवकाशग्रस्त समय
हमारी विकल भाव-भंगिमा
हमारी अविकल गरिमा
स्वीकार करो
हम,
जो इतिहास हैं
पुरातत्व है
संस्कृति हैं
सभ्यता हैं!
एक झाड़न, जिससे हर साफ़ स्वच्छ चमकता है
हर बिका स्वाभिमानी मस्तक, जिसे सिर में लगा दमकता है।
हम पगड़ी नहीं हैं
हमें जितना चाहो, उछालो

जितना चाहो रौंदो, फेंको, चीड़ो, फाड़ो
हम हैं निरपेक्ष, दफ़न, अस्वीकृति.....
हम हैं इतिहास, पुरातत्त्व, संस्कृति
हमें ओढ़ो, बिछाओ
जहाँ चाहो, वहाँ ले जाओ!
जीवन को दफ़न करो
खण्ड-खण्ड करो
चीड़ो, फाड़ो
ओ, अरे, ओ,
तुम स्वयं बन सकते हो
इतिहास, पुरातत्त्व, संस्कृति
दुनिया की हर फटी-पुरानी चीज़ वही है
जो क्षण के वर्तमान को न भोगे,
अतीत की स्मृति में जिये
क्या तुम नहीं जानते
जीर्णवस्त्रा, रुग्ण सभ्यता, ममता, श्रद्धा
उसी पर टिकी है.....?

एक एक्सट्रा
(लक्ष्मीकांत वर्मा)

[कुछ घोषणाएँ और स्थितियाँ]

पूर्वाभास

एक बहुत बड़ा नक़्शा है
उस नक़्शे में एक बहुत बड़ा वृत्त है
उस वृत्त में एक आरपार अक्षांश-रेखा है
एक दूसरी रेखा उस अक्षांश को काटती है
और इस तरह
एक चौघेरा बन जाता है
और उस चौघेरे में सैकड़ों बिन्दु हैं
और उन बिन्दुओं में से
एक नन्हा सा बिन्दु और है
उस नन्हें से बिन्दु में कहते हैं करोड़ों लोग रहते हैं
उन करोड़ों से अलग-अलग
उन करोड़ों के साथ-साथ
मैंने देखा है—
उन्हीं में से एक मैं हूँ
यानी करोड़ों का अन्तिम करोड़वाँ हिस्सा
यानी एक अकेली इकाई
जिसमें इन करोड़ों का अंश है
लेकिन जो इन करोड़ों से अलग भी है
अकेला, सबका
सबका, अकेला,
अकेला
सब की संवेदना भोगता
इसीलिए सबका—अकेला

क्यों वह जिसे भोगता है
हमेशा हर भोग की स्थिति के बाद
बच जाता है
वह भोगता बचता
मैं लक्ष्मीकान्त वर्मा
यानी करोड़वाँ चेतन
12 जनवरी 1965 को
जीता जागता
एक अकेला इकाई
घर में बन्द, धुँधला
गीजा अलगीजा
एक ठुकराई बाँबी से निकलता
एक अकेला
मौत की तरफ बढ़ता
बेलौस!

पहली घोषणा

और मेरी यह पहली घोषणा है
एक रील में लिपटे चित्र से
मैं विद्रोह कर के निकला हूँ
निकलना चाहता हूँ
इसलिए मैं पहली घोषणा करता हूँ
मेरे चेहरे को औरों से अलग मत बनाओ
मैं स्वयं अपनी शक्ल बना लूँगा!

दूसरी घोषणा

और यह मेरी दूसरी घोषणा है
मैं अभिनेता हूँ किराये का
मुझसे ईमानदारी की माँग मत करो
क्योंकि मैं अभी-अभी जमात से निकला हूँ
मुझे एक स्थिति दो, उस स्थिति का वातावरण दो

मैं उसके अनुकूल
उस प्रवाहित क्षण के दायित्व को
वहन कर लूँगा

मैं कागज की नाव पर नदी के पार उतर सकता हूँ
मैं युद्ध-क्षेत्र में अपने को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा सकता हूँ
मैं शिकंजों में अपने को कसवा कर
अनगिनित यातनाएँ अपने शरीर पर उगा सकता हूँ
किसी ऊँची चोटी पर से हजारों फिट नीचे
किसी भी अन्धेरे खड्ड में कूद सकता हूँ
और
यह सब करने के बाद
बिना किसी हीरो का रोल किये
शाम को थका-माँदा
अपनी सन्तान के लिये दो गैस भरे गुब्बारे लेकर
अपने घर को जिन्दा वापस जा सकता हूँ
मैं किसी स्थिति का पूरक हूँ
नियन्ता या निर्देशक नहीं
मुझसे स्थितियों की असंगतियों की माँग करो
ईमानदारी की नहीं।

तीसरी घोषणा
मेरी तीसरी घोषणा है
एक दस्ताने के नीचे
हमारी भाग्य रेखायें ठण्ड से बचने के लिये बन्द हैं
वह पसीजती हैं तो भी
और नहीं पसीजती हैं तो भी
मुझे उन्हें मान कर चलना है
बिना देखे देखना है
और बिना जिये जीना है
क्योंकि मेरी अपनी सक्रिय उदासीनता में
जीने का अर्थ है
बढ़े हुए नाखून की तरह जीना

एक सीमा तक अनजाने उगना
और फिर खुद को तराश देना
और फिर उगना और तराश देना।

चौथी घोषणा

''मेरी चौथी घोषणा है
मैं आस-पास से प्रभावित नहीं होता
उस रोड-प्लेट से निर्देशित नहीं होता
और इस मानसरोवर से खण्डित नहीं होता
मेरे लिए हर वह तालाब मानसरोवर है
जो गन्दे से गन्दे जल को गंगा से मिलाता है
क्योंकि चाहे मानसरोवर से गंगा निकले
या तालाब से
मेरे इतिहास भूगोल पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता
इसलिये
मेरे लिए वह नाली भी गंगा है जो हमारे मैल ढोती है
और वह तालाब भी मानसरोवर है
जो खण्डित नहीं होता
क्योंकि वह सेतु है
मेरे और तुम्हारे बीच का
मेरी गन्दगी का
तुम्हारी पावनता का
इसलिए मैं आस-पास से प्रभावित नहीं होता
यहाँ तक कि तुमसे भी नहीं।
यह मेरी घोषणा है
जिसे लिख कर मैंने वेस्ट पेपर बास्केट में
डाल दिया है।''

पहली स्थिति

असंख्य हाथ
असंख्य पैर
असंख्य जिस्म

असंख्य आत्माओं के बीच
मैं एक एक्सट्रा हूँ।
जो असंख्य धड़कते हुये दिलों
असंख्य कमजोर कन्धों पर
असंख्य सलीबों को एक साथ
चलती फिरती तस्वीरों को देख रहा हूँ
और मेरे हाथों में एक काँटों का ताज़ है
जिसे मैं किसी को पहना देना चाहता हूँ

लेकिन,
वे....
जो फूल माला लिए खड़े थे : खड़े-खड़े सो गये
वे,
जो थाल में आँसू के दीये लिए खड़े थे : फरार हो गये
और अब अकेले मैं हूँ
उस असंख्यों में से किसी एक को चुनता हूँ
तो पता चलता है
वह भी मुझ जैसा एक एक्सट्रा है
और मैं एक-एक कर सबको चुन चुका हूँ
मुझे सभी मिलते हैं अपने ही जैसे
इसीलिये मैं अभी तक खड़ा हूँ
काश कोई एक्सट्रा होने के बावजूद कुछ होता
बिलकुल मुझ जैसा?
मैं
जिसे एक आग लगे हुए मकान की बीसवीं मंजिल से
एक कुनबे को
कन्धे पर लेकर नीचे उतर आना है
इसलिये मुझे चाहे चाल से, अक्ल से, दृष्टि से
चाहे जैसे हो यह पार्ट अदा करना है
मैं जानता हूँ
हर अस्वाभाविक स्थिति में
अस्वाभाविकता ही स्वाभाविकता है।

दूसरी स्थिति

नीला आसमान
अन्धेरी रात कम
मगर उजाला दिन नहीं
आकाश-गंगा; सुस्त हवा में दूर सरकती हुई ओढ़नी
वातावरण ठण्डा, फ़सुर्दा : लेकिन बर्फ़ नहीं
चाँदनी मुर्दा : लेकिन किसी तर्फ़ नहीं
दूर से आती हई आवाज़ें
एक रोती हुई बिल्ली की
आतंक पैदा करने वाले यंत्रों की
तैरती हुई सीटियों की
पंखदार चीटियों की
सन्नाटा....
सन्नाटा....
सन्नाटा....

निर्देशक का कहना है
प्रकृति की इस सेटिंग में
मैं जितना भी अप्राकृतिक हो सकूँगा
उतना ही सफल हूँगा
और सफलता?
स्वयं प्रकृति पर विजय पाना है।

तीसरी स्थिति

एक पलंग
एक लिहाफ
एक औरत रूपगर्विता
एक मर्द बदहवास
एक नौकर मूर्ख
एक दोस्त धूर्त
इतना बड़ा व्यंग्य
और मैं : व्यंग्य प्रतिमूर्त
और इनके बीच

मुझे धीरोदात्त नायक का अभिनय करना है
सुख दुःख
प्रेम, आक्रोश;
घृणा, स्नेह
सब को साथ लेकर चलना है
हर टूटेपन को जोड़ कर चलना है
बूढ़े पिता के मरने पर रोना है
बीबी के साथ हँसना है
गुण्डों के साथ दोस्ती निभानी है
और नपुंसकों के साथ शौर्य दिखाना है
निर्देशक का कहना है
खलनायक के मर जाने के बाद
उसने अपना पार्ट भी
धीरोदात्त नायक को दे दिया है
मैं मन से चाहे जो हूँ
मुझे सदा धीरोदात्त ही रहना है
न कम होना है
न ज़्यादा दिखना है

चौथी स्थिति

जिस गाड़ी की दुर्घटना के साथ मुझे जुड़ना था
वह 1957 की आधी रात को
एक भयानक जंगल में हुई थी
और आज 16 जनवरी 1965 है
यानी पुरानी तस्वीर में हमें अपनी-अपनी तस्वीरें जोड़नी हैं
मैं नहीं जानता
उस दुर्घटना में कितना मुझे जुड़ना है
और कितना उस तस्वीर को
मगर इस समय मैं स्टूडियो के नकली स्टेशन पर
पूरी तरह घायल हूँ
मेरे हाथ-पैर में खपाचियाँ बँधी हैं
दिमाग़ पर पट्टियाँ

इसलिये बग़ैर किसी सिलसिले के
मुझे एक साथ दुर्घटना से लेकर
मरघट तक
और मरघट से फिर जिन्दा उठकर
अपने घर तक वापस जाना है
मौत की हर तस्वीर में
मौत को स्थिर कर वापस आना है।

बहुत दिनों बाद पता चला
मेरी उजरत में से
खपाचियाँ की कीमत काट ली गयी है
क्योंकि मरघट से उठ कर घर तक जाने में
खपाचियाँ बँधी-बँधी मेरे साथ चली गईं
और उस रोज शाम की चाय मेरी पत्नी ने
उन्हीं को जला कर बनाई थी।

पाँचवीं स्थिति

एक दोस्त का, घर है
जिस पर लिखा हुआ है : शुभ-लाभ....स्वागतम्
मुझे आधी—रात गये
उसी घर में घुस कर अपने दोस्त के पैसे चुराने हैं
चुराने हैं और चोरी कर के निकलने के पहले
अपने दोस्त को इस तरह जगाना है
कि मैं जो कि चोर हूँ
और दोस्त जो कि दोस्त है
दोनों मिलकर चोर की तलाश करें
और अन्त तक चोर को न पकड़ पायें।

मैं जानता हूँ
जिसके घर में मैं चोरी कर रहा हूँ
वह न घर है न मेरा दोस्त
फिर भी मुझे मुजरिम बनना है
और शराब की बोतल खोलनी है
शराब पीनी है

और बेहोशी के आलम में गाना है—
''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत''

निर्देशक का कहना है
यह पुण्य श्लोक गाते समय
मेरे चेहरे पर एक पक्के शराबी लोफ़र की
सम्पूर्ण हिंसा टपकनी चाहिये
मैं नहीं जानता कि श्लोक का कितना अंश
मैं ठीक-ठीक कह पाया हूँ
पर यह सच है
उस रोज अपना पार्ट अदा करके
जब मैं घर गया
मुझे मेरे पड़ोसी ने
बहुत बुरा भला कहा
क्योंकि वह अभी परसों ही
जेल से छूट कर बाहर आया था!

छठी स्थिति

आज सबेरे मेरे चारों ओर
एक दुश्मनों की बस्ती उगा दी गयी है
और मुझसे कहा गया है
दुश्मनों की इस बस्ती में
हर दुश्मन के सामने मैं अपने दोनों गाल
बारी-बारी से बदलता चलूँ
क्योंकि हमें तेज़ी से दुश्मन का हृदय
परिवर्तन करना
मैं बार-बार यही ढूँढ़ रहा हूँ
कि इन उगाई हुई बस्तियों में
रहने वालों के पास हृदय है या नहीं
और बार-बार मैं इसी नतीजे पर पहुँचता हूँ
कि हमें जिस हृदय का परिवर्तन करना है
उसे इन बस्तीवालों ने पेड़ पर टाँग दिया है
उनका कहना है

कि वह मुझ पर और मेरे अभिनय पर
विश्वास करते हैं,
अर्थात्
मैं उनके हृदयहीन होने पर भी
उनका हृदय परिवर्तन कर सकता हूँ
और वह बिना हृदय के ही
हृदयवान कहलाये जा सकते हैं।

सातवीं-स्थिति

मैं,
जो यहाँ इस युद्ध-क्षेत्र में
तुम लोगों के साथ खड़ा हूँ
मुझे तुम सब के साथ मरना है
और उस समय मरना है
जब किसी महारथी का चक्का रण के बीच में फँसेगा
और उस चक्के को कीच के ऊपर उठाने के लिए
जब कोई सख्त चीज
नहीं मिलेगी,
तब मुझे उस रक्त सने कीच में लेट जाना होगा
ताकि वह पहिया मेरे ऊपर से गुजर जाय
और वह महारथी
रथ युद्ध में जब-जब अपना पहिया फँसाये
तब हम, तुम, वे, सब, —
बारी-बारी से सख्त ईंट बनकर
उसके रथ को उबार दें, मुक्त कर दें।

मैं उस जाति एक एक्सट्रा हूँ
जो बिना किसी उद्देश्य के
यूँ ही, हर युद्ध में
बार-बार, बार-बार, बार-बार
खपता आया है

मैं गर्व में था
मैं वह ईंट हूँ

मर कर भी जीवित रहूँगा।

लेकिन—
भिश्ती ने युद्ध-क्षेत्र में
पानी और खाली रंग फेंका ही नहीं
कीचड़ हुआ ही नहीं
पहिया फँसा ही नहीं
इसलिए मैं उस बिना भोगे दर्द का उच्छिष्ट हूँ।

एक बहुत बड़ी खपत
अब अपने किसी पात्र को
अनखपा ही छोड़ देती है
मैं उस स्थिति का
जीवित व्यंग्य हूँ।

आठवीं-स्थिति

मैं वह एक्सट्रा हूँ
जो महज साथियों के मर्म को छूने के लिए
सदियों से यूँ ही दफ़न होता आया है
दफ़न होता रहेगा

लेकिन कुछ अजब है
मैं दफ़न होने को प्रस्तुत हूँ
और जब मैं प्रस्तुत हूँ
तो सम्पूर्ण कथा में से
दफ़न होने का दृश्य ही काट दिया गया है।

इसलिये
आज मैं वह एक्सट्रा हूँ
जिसे बिना दफन हुए
अपने होने का भुगतान लेना है।

नवीं-स्थिति

मैं
जिसे आतशबाजियाँ छुड़ाकर
अपने पराजित नगर के चौराहे पर
विजयी शत्रुसेना के साथ हर्षित होना है

अपने ही स्वजनों को यह दिखाना है
कि मेरा सगा छोटा भाई
जो मेरे विरोध में
लेकिन मेरे साथ युद्ध में मर गया
वह मेरा सहोदर होते हुए मुझसे बुरा था।

क्योंकि उसमें,
अपने ऊपर व्यंग्य करने की क्षमता नहीं थी
उसमें अपने को
टूटा हुआ पाने की देखने की शक्ति नहीं थी
उसमें अपने से ऊब कर
केवल दूसरे के लिए
अर्थात् किराये पर कुछ भी,
या जो भी आ जाय
उसे सहने की आसक्ति नहीं थी
और
मैं चौराहे-चौराहे
अपनी पराजय का जशन मनाता
आतशबाजियाँ छुड़ाता
सबसे प्रसन्न व्यक्ति हूँ

क्योंकि मैंने मान लिया है
मैं एक एक्सट्रा हूँ
महज़ एक्सट्रा।

दसवीं स्थिति

एक तेज गति में कुछ नहीं;
दो बाँहें और एक बाहुपाश
दो आँखों में डूबा मोह-न्यास
दो धड़कती छातियाँ। बुलाने को आतुर-
एक धड़कता हुआ दिल,
कन्धों पर अपनी सलीब लादे
सारे के सारे लोग
एक नहीं हज़ार, हज़ार, हज़ार लोग—

जिनके सर पर ताज हैं
हथेलियों से हज़ार हज़ार बूँद लहू
टपक रहा है,
लहू की बूँदों में पसीना टप मिलक रहा है
पसीने में डूबा लहू है
लहू से लत्त-फत्त सीना
और यात्रा लम्बी—
नितान्त लम्बी।

निर्देशन में यह लिखित था
कि यह सलीबें कार्ड-बोर्ड की हल्की
और काँटों के ताज प्लास्टिक के नकली होंगे,
लेकिन हम सब को लोहे की सलीबें
और काटों के ताज मिले हैं
इस तीखे दर्द का साक्षी कौन हैं?
अकेला मैं
जिसने अपनी सलीब
और अपना ताज
कदम से कदम मिला कर चलने वाले
अपने एक साक्षी को
दे दिया है।

एक संवेत कोरस : समापन गीत

हम सब निकले, आवारा पाँवों की गति बन
गली-गली में
सड़क-सड़क पर
चौराहों पर, हर थाने पर, हर गद्दी पर
युद्ध-क्षेत्र है
ओ नर्माई उम्रों वालो
नम आँखों, नम बाँहों वालो
जाओ तुम वापस जाओ
हम इस युग के नये मसीहा
महज़ एक्सट्रा

खपत मात्र
हम खाद और केवल खाली
हमें सलीबें ले जाने दो
अब तक हमने महज़ एक अभिनय सरजा था
अब इस तपती क्वार-धूप में—
चटखाने दो अपने-अपने तन्तु शिथिल ये
बहुत बार हम मर कर जीयें
जाने दो,
तुम वापस जाओ
ओ नर्माई उम्रों वालो
नम आँखों नम बाँहों वालो
कच्ची नींदों, सपनों वालो
हम पिता तुम्हारे महज़ एक्सट्रा
हमें आज तुम खप जाने दो
खप जाने दो।
खप जाने दो।

युद्ध-कविताएँ

कुँवरनारायण : दो कविताएँ

1. भविष्य की एक ऐतिहासिक खोज

जमीन के नीचे बना
पिरामिड की तरह मजबूत
ठोस लोहे का ताबूत
किसी ऐटमशाह का मक़बरा
हड्डियों से भरा,
सिरहाने लिखा—
''खँडहर सच बोलेंगे, क्योंकि आदमियत झूठी है।''

उखड़े मकान,
झुलसे इन्सान,
लाशों की क्यारियों में
फूलों की जगह
तोड़कर लगाये हुए मेंहदीरचे हाथ
महावर लगे पाँव,
चारों ओर बिखरे पड़े खतरनाक खेल—
टैंक, मशीनगनें, हवाईजहाज़, रेल
और पास ही कुछ अपंग, कुछ कच्चे
टूटे-फूटे बच्चे,
किसी नन्हीं कटी हुई बाँह पर बँधे
एक ताबीज़ में लिखा—
''दुनिया फूटेगी, क्योंकि हमारी क़िस्मतें फूटी हैं!''

उस हज़ारों साल बासी अँधेरे को चीरता हुआ
धुएँ का एक झोंका सूखी ठठरियों के बीच चीखेगा,
लोहे की दीवारों को झनझनाते हुए
किसी आदिम मूर्खता का विस्फोट होगा

जिससे एक रेकार्ड प्रकट होकर आदेश देगा—
"मशीनें मातम करें, क्योंकि आत्माएँ टूटी हैं!"

2. वही तस्वीर

सभ्यताओं में नहीं
आबादियों में रह रहे हैं हम :
भयानक भीड़,
कन्धे छिल रहे हैं—घुट रहा है दम।
क़बीले—खून के प्यासे, लड़ाके, क्रूर, छापामार—
हिंसा पर पनपते :
आज भी जो लूट करते
झूठ बकते, घात करते,
लहलहाती ज़िन्दगी पर
टिड्डियों के बादलों-से टूट पड़ते....
घूम-फ़िरकर सामने आती
वही तस्वीर खूनी बादशाहों की
वही तक़दीर लाखों बेगुनाहों की;
वही मनहूस भद्दा व्यंग्य
हँसते दाँत मैले खँडहरों के,
वही रौंदी संस्कृतियाँ,
मूर्खताओं, दंभ, पापों, स्वार्थों के
वही काले कारनामे,
चीखते वीरान संसद-भवन,
मद्दर उल्लुओं की शोक में डूबी सभाएँ....

नरेश मेहता : ड्रेगन के नाम पाँच कविताएँ

1. जननायक

माओ!
मैं ही वह कवि हूँ
जिसने अत्यन्त पवित्र निष्ठा के साथ
चीन की प्रशस्ति में
हिमालय की भाँति विशाल
एक लम्बी कविता लिखी थी

और, मैं ही आज
उसी पवित्र निष्ठा के साथ
एक छोटी सी कविता
[तुम्हारी जनवादी गोलियों की तरह]
तुम्हारे सीने में
दाग देना चाहता हूँ, कि—
ओ जननायक! तुम पशु हो।

2. एक वसन्त

फूल?
उसे रहने दो,
वह तुम्हारा नहीं
मेरा अस्त्र है।

तुम मेरे पुत्र के लिए
अपनी बन्दूक़ में
गोलियाँ भरकर लाये हो?
स्वागत है।
लो—
मैं तुम्हारे पुत्र के लिए
अपनी धरती का
एक सम्पूर्ण वसन्त देता हूँ।

3. देववाणी

खिड़कियों के पल्लों ने
हठात्
अपने शीशे गिरा दिये
और वे निर्वसन हो गयीं।
मोमबत्तियाँ
सकुच
अपने में लौटने लगीं
अनुद्दीप्त नारियों-सी।
भाप छोड़ती केतली ने
जाने क्या सुना
जैसे किसी बहरे ने खुसपुस सुन ली हो।

स्कूली बच्चों के जूतों की खटखट
बैसाखियों की भाँति
लड़खड़ाती टूट गिरीं
मैं शान्ति पर कविता लिख रहा था
तभी मेरी खिड़की से
धुएँ का ड्रेगन
रेंगते हुए झाँक रहा था।
मुझे अपनी कविता की चिन्ता न थी
पर वह ड्रेगन
शेल्फ़ों में रखी
देश-देश की देववाणियों की तरफ़ बढ़ रहा था।

4. चू-युआन

मेरी शेल्फ़ में
ऋग्वेद के पास
चू-युआन
जाने कितने बरसों से लगे हुए थे।
आज सबेरे
सहसा वह गिर पड़े।
नौकर की भूल समझ
सादर उठा
वहीं लगा दिया,
लेकिन वह फिर गिर पड़े
जब ऐसा अनेक बार हुआ
पूछा,
—क्या बात है कविश्रेष्ठ?
बोले,
—यहाँ अब मेरा कोई प्रयोजन नहीं रहा।
और वह इस बार
सदा के लिए गिर पड़े।
मैं नहीं समझ पाता
उन्हें क्या कहूँ?
उनके प्रति आज भी

कोई अनादर नहीं
किन्तु
उनके मन की लज्जा, संकोच को
मैं क्या करूँ?

5. एक जलता शब्द

जिस सपाटे से
हवा
शहर भर की खिड़कियों को बन्द कर रही थी,
पार्कों के फूल
पत्तियों में अनायास
डरकर छिपे पड़ रहे थे,
बच्चों की बोतलों का दूध
निपिलों में जमा जा रहा था,
साइरन का रेंगता हुआ
एक लम्बा शोर
वातावरण को चींथ रहा था!
मुझे हैरानी थी कि
इस बरस
शरदागम का यह कौन-सा ढंग है?
बाहर झाँकना चाहता हूँ कि
तब तक
मेरे सामने खुले इतिहास के पन्ने पर
अँगुली के नीचे
एक संज्ञा
एक शब्द
[जो कुनमुना रहा था]
जल उठा
और झुलसी अँगुली के नीचे
जलता हुआ जो शब्द रेंग रहा था
वह था
हूण!!

लक्ष्मीकान्त वर्मा : तीन युद्धोत्तर कविताएँ और एक चौथी

1.

ओ मेरे सैनिक,
मैंने जब-जब अपनी आत्मा के आइसबर्ग को हटाया
भीतर की तरलता में जमी हुई
मिली तुम्हारी लाश
जिसे मैंने जब पहचाना,
तो वह तुम नहीं,
मैं स्वयं था
मरा हुआ मुर्दा
किंतु मुट्ठियाँ बँधी हुईं।
ओ मेरे अंतर के स्वर्गवासी,
काश, मेरी आत्मा में एक आँच होती
और उसमें आग होती
तो हम सब इन बर्फों के बावजूद
तुम्हारी आत्मा को पहचानते
अपने को पाते।

2.

तुमने आज माँगा है रक्त
ओ धृतराष्ट्र की संतानो,
मैं दूँगा,
मैं दूँगा अपना भविष्य अभिमन्यु
परीक्षित को भी मैं तक्षकों को सौंप दूँगा
किंतु कहो, उस अंधे धृतराष्ट्र से,
उस माँ प्रसूता करुणा से
यह बनावटी पट्टियाँ आँखों से उतारे।
तुम्हारा अंधापन जन्मजात है, क्षम्य है
किंतु माता को देखने दो
पुत्रों-पौत्रों की आहुतियाँ
शायद उसके बनाये हुए सलीबों पर

इन स्वप्नग्रस्त तरुणों की आत्मा को शान्ति मिले;
और वे पट्टियाँ
मेरी संतानों की कफ़न न बन पायें,
जिनमें तुम्हारी कायरता पनपती है।
तुमने आज फिर माँगा है रक्त
मैं दूँगा ओ अभिभावक
मैं दूँगा
किंतु, कह दो उस शक्ति के उच्छिष्ट से
वसुधा पर गिरने दे यह रक्त मेरा
बीच में ही वीभत्स जीभ से इसे मत चाटे
क्योंकि रक्त यह
किसी की अनुकम्पा, वरदान का बना नहीं
यह स्वानुभूति में तथा उष्ण गरिमा का है
होगा यह रक्तबीज
माध्यम से कह दो
हमारे-तुम्हारे बीच न आये
दूँगा मैं यह तपा हुआ स्वर्ण तप्त
तुमने आज फिर माँगा है रक्त
मैं दूँगा।
तुमने आज फिर माँगा है रक्त
मैं दूँगा ओ इन्द्र
लो, ले जाओ यह पूर्ण अस्थियाँ मेरी
विश्वास करो यह दधीचि की अस्थियाँ हैं
वज्र हैं, अस्त्र हैं अमोघ
किन्तु सुनो :
इनको लेने के पहले
वचन दो
मेरी अस्थियों का माध्यम
पशु नहीं,
आदमी होगा!
तुमने आज फिर माँगा है रक्त
मैं दूँगा!

3.
ये हैं वही
जो सुबह की ठंडक में
दबे पाँव, दबे मन, दबे हाथों से
आतंकित थे,
कल तक स्कूलों में, दर्जों में, खेल के मैदानों में
घरों में, पार्कों में पुटपाथों के कोलाहल में
अपने पिता की घुटन लिये जीते थे।
ये हैं वही
जिनको तुमने—
एक बार नहीं,
सौ-सौ बार कहा अनुत्तरदायी, उच्छृंखल, अनुशासनहीन
यही नहीं,
लांछित किया है इनका यौवन
इनकी हर खुशीभरी चंचलता को,
निन्द्य घोषित किया है
आईने में तुमने देखा नहीं अपना बुढ़ापा,
इसलिए हर अल्हड़पन तुम्हें लगी जहालत, अशिष्टता, अपौरुषेय।
ये हैं वही
जिन्हें तुमने सिनेमाघरों के सामने नेतृत्वहीन
भटकते देखा है
जिन्हें तुमने सीटियाँ बजाते, गाते आवारा-सा पाया है
जिन्हें तुमने ज़िद्दी, उद्दंड, चरित्रहीन घोषित किया है
जिनकी हर शोख़ी तुम्हें काले ख़िजाब-सी लगी
जिनकी हर ज़िद तुम्हें बुद्धिहीन दिखायी पड़ी
ये हैं वही
जिन पर तुमने गोलियाँ चलायी हैं
जिनके रक्त से तुमने अपनी सत्ता को श्रीयुत बनाया है
गली-कूचों में
घरों-होटलों में
चरागाहों, नंगी सड़कों पर

चौराहों, कुरुक्षेत्रों में
उन गोलियों से मारा है जिनके बिना,
सैनिक हमारे सीमान्त पर हारे-मरे
ये हैं वही मेरे-तुम्हारे बच्चे
जो मेरी-तुम्हारी अपूर्णताओं के बावजूद
ज़िन्दा रहते नहीं रह लेते हैं
जीवित होते नहीं, जी लेते हैं
हर मजबूर साँस से शोख़ियाँ निचोड़ते
हर टूटने के क्रम से उच्छृंखलता लेते, जीते, जागते
ये वही हैं ओ सहज बन्धु,
जो बिना हमारे-तुम्हारे आह्वान के,
गली-गली, सड़क-सड़क
हाथ में बूट-पालिश और ब्रश लिये
जन्मभूमि के मुँह पर लगे कलंक को मिटाने
हर चरण, भारतीय चरण छूते, चूमते
भिक्षु बने निकल पड़े इधर, उधर, चारों ओर
ओ मेरे बच्चो
मैं मर्यादा पुरुषोत्तम नहीं,
इसलिए कहता हूँ
पकड़ो मेरे अश्वमेधी यज्ञ के घोड़ों को
तुम्हारे चाचा ने लक्ष्मण-रेखाएँ जो बनायी थीं
मिटा दो उन्हें
क्योंकि तुम ज्योति-पुत्र हो
प्रतिशोध लो माँ का
अपमानित जननी का!
शायद तुम्हारे नर्म रक्त-बिन्दु
धो दें सबके कलंक!

4.
एक टूटे हुए फ़ौजी जूते के प्रति
ग़दर के खँडहर से चूर-चूर पाँवों में
थके-थके, लथपथ, हारी घटनाओं में—

सोये हुए जूतों को, पालिश को,
'शेप' और 'मेक' को,
चरणों के भेद को,
हारा हुआ, खोया हुआ
मत समझो
मत समझो।
आदमी है!
सजग है
गाल फाड़ जूते की जीभ खींच लेगा, चलेगा
फीते को कसेगा
नये सधे क़दम भी गढ़ेगा, गढ़ेगा
दौड़-धूप अंधाधुन्ध
चिल्ल-पों
लक्ष्य नहीं
आदमी की कल्पना इतनी कमजोर नहीं
मान लो
मान लो
ये ठहरे हए पाँव
चूर-चूर नहीं!
निकली हुई कील
युद्धग्रस्त बूट की
एड़ी में चुभती हुई
प्यास की, लूट की,
लगे हए जंग की,
खाल की, मूठ की
आस-पास खून नहीं,
खून नहीं,
ग़दर के खंडहर-से चूर-चूर पाँव
हाँ,
मजबूर नहीं, मजबूर नहीं
बारूदों से बिछे हुए पथ

इनको मंजूर नहीं
मंजूर नहीं
रास्ता है वही,
जो भटके को साहस दे
भटकावा है वही
जो जीवन में
संगति दे।
भटकावा जिज्ञासा है
मौत इसे मत समझो।
थके हुए चरणों में
शक्ति अभी बहुत है।

विजयदेवनारायण साही : युद्ध-कविता

वक्तव्यों, दुर्घटनाओं, उद्बोधनों, आदेशों
और लम्बी व्याख्याओं से भरे हुए
अखबार के इस गट्ठर को
कबाड़ी के हाथ बेच देने के बाद
मैं फिर अकेला, निरस्त्र
सामना करता हूँ भविष्य का
याददाश्त में रेंगती हुई खबरें
विकृत अफ़वाहों के साथ
रक्तबीज की तरह
युगनद्ध होकर शान्त हो गयी हैं।
ओ भविष्य, ओ परीक्षित, ओ हिरण्यगर्भ,
अब भी मैं तुम्हारे चारों ओर
प्रकाश की तरह लिपटा हुआ हूँ :
वहाँ—
जहाँ निहत्थे सारथी
और लोलुप ब्रह्मास्त्र के बीच
आख़िरी घटना घटेगी
चुपचाप।

श्रीराम वर्मा : तीन कविताएँ

1. बीसवीं सदी का अन्तिम गीत

इतने सर्वहारा हम कभी नहीं रहे।
स्वर्ग तक ले जाया गया हमें
पर नरक की सुविधा भी दी नहीं गयी।
ऊपर से लादी गयी इतनी स्वतंत्रता
भीतर उकसायी गयी केवल परतंत्रता।
प्रश्न इतने कि कोई प्रश्न नहीं
मूल्य इतने कि कुछ भी निर्व्याज नहीं।
सम्पूर्ण इतने कि खंड-खंड
शांत इतने कि उद्‌जन प्रचंड
चाँद तक पहुँचे
पर असूया तक नहीं गयी।

सर्वजयी हुए
पर हाय, इतने सर्वहारा हम कभी नहीं रहे।

2. सोनकथा

आधी जनता सोती है
आधी जगाती है नेताओं को।
नेता अधजगे टकराते हैं आपस में।
पूरा देश एक बन्द कमरा है।
युद्ध की दस्तक अजनबी लौट जाती है।
'सोने का हिरन
एक शील है युधिष्ठिर
बर्फ़ की शिलाओं पर
गलने के लिए महज़।'
फूटते सिरों की बजती है डुगडुगी।

3. रास्ते राहत में जयचन्द

बस
ज़रा और छोटा हो जाय
तिलचट्टे की तरह का आसमान

बित्ते भर की मेज़
कुछ और भर जाय
बस
कुछ बर्फ़ में ठंडी हुई
आ जाय जरा और लाल-लाल....
लाना जी
फ़िलहाल
एक प्लेट लुमुम्बा
एक कप गाँधी
बस
तफ़रीह के लिए
अच्छी रहेगी यह आँधी

तीन लम्बी कविताएँ

विजयदेवनारायण साही : घाटी का आखिरी आदमी

वे सब उस विशाल तीर्थयात्रा को चले गये
पताकाएँ उड़ाते, तूर्य बजाते,
आभूषण झंकारते :
धनुषाकार नदी के किनारे
एक सुन्दर हिरन
चुपचाप पानी पीता है
टटोल-टटोलकर
और एक पनडुब्बी
गेंद की तरह उछलती है
अधर में।
संज्ञाहीन घाटी के शरीर से
नाभिवासी सर्प की तरह
निरापद को तौलता
निकलता है अर्थ
नवजात शिशु की त्वचा-सी
चमकदार केंचुल पर
ब्रह्माण्ड की गुदगुदी उँगलियों का
दबाव महसूस करने के लिए,
और पीता है छनी हुई हवा को।
क्या वे वापस लौटेंगे? शायद नहीं।
तूर्य की आवाज आती है, दूर से
और मिटते-मिटते
तनी हुई हवा की ही तरह
पारदर्शी हो जाती है।

वे जो उत्साह, ओज,
तैयारी की घबराहट,
कोतल पशुओं का रोका जाता आवेग,
रंग-बिरंगे परिधानों की निर्णयात्मकता,
परस्पर सहारे की बेचैनी,
मुखियाओं का आत्मविश्वास,
पंक्ति-पंक्ति में अनुस्यूत
ममता, कुतूहल, उत्स, कुरच,
भरे-पुरे आरम्भ का उल्लास,
कल्पित प्रयासों का उठता-गिरता संगीत
लिये, अगले पड़ाव तक चले गये
क्या वे वापस लौटेंगे?
—शायद नहीं।

अर्थ के टटोलते सरीसृप-सा
स्वप्न-रहित
मैं वल्मीक तोड़कर निकलता हूँ
मैंने विहा दिये हैं सारे स्वप्न, सारे पाश
और मैं उन्मुक्त हूँ
फिर भी बरसात की निरभ्र दोपहरी में बिल्लौरी भाप-सा
मैं मँडराता हूँ घाटी पर,
मुझको बेधकर थरथराती है पनडुब्बी
और सुनहरा हिरन
मेरे स्पर्श से रोमांचित होता है।
अन्तरिक्ष की तरह अनस्तित्व समाधि के बाद भी
कुछ नहीं भूला हूँ मैं
सिर्फ़ सब कुछ धुल गया है
और हीरे के टुकड़ों-सा चमकता है
आहिस्ता तरंगायित

क्या मैं जाऊँ उस पार
जहाँ ओसभरी घास रसीले होंठों की तरह आभा देती है?

अकेला पीला फूल
अनिश्चित चिड़िया की तरह
पंख खोल-खोल कर रह जाता है
उड़ता नहीं?
सफ़ेद पत्थरों का उतरता हुआ ज़ीना
थोड़ा-सा दिखता है
सूना
जाने के लिए नहीं, बैठने के लिए?

कौन था जो सीढ़ियों तक आया
और आकार लेकर अदृश्य हो गया?
मैंने उसका चेहरा नहीं देखा
क्या उसके चेहरा था?
क्या वह था
जो घाटी में छूट जाता है
सबके चले जाने के बाद?

क्या है जिसने धो दिया है अस्तित्व को
स्मृति के फैलाव में इतस्तत:
स्तब्ध मीनारों को
संगमर्मर की तरह जमी हुई बालू को
और घिरे हुए निर्वात को
जो अस्तित्व है?
समय, तो फिर समय ही क्या है?
स्वप्न-रहित समय
जो धोकर संचित कर देता है
चेतना को
निर्निमेष अशरीरी दृष्टि में बदल देता है?

कब तक तुम इस चुपचाप बहते हुए
निर्मल पानी को देखते रहोगे—
स्वप्न-रहित?

जंगलों के ऊपर से बादल चले गये
और आकाश फिर आदिम हो गया;
कुछ देर के लिए
दूर नदी के सिरहाने
बर्फ़ीला शिखर दिखा था
और लुप्त हो गया।
कुंज से टूटकर एक पीली पत्ती
निर्मल पानी की आरसी में गिरी
नाची, और बहकर चली गयी।
तुमने उसे नहीं देखा
सिर्फ़ पानी देखते रहे,
अदृश्य स्त्रोत से आता हुआ
अदृश्य रन्ध्र में समाता हुआ
रव-हीन, स्वप्न-हीन पानी।
कहाँ है अन्त?
तिलमिलाता, दुर्भेद्य, अन्तिम अन्त?
मैंने अपनी दोनों हथेलियाँ फैला दी हैं
दर्पण की तरह
ताकि यह विराट् नील उनमें प्रतिबिम्बित हो सके।

अब भी पहले की ही तरह
इन हथेलियों के तले
नीला समूचा आकाश दिखता है आर-पार
और इस गहरे अस्तित्व को
भाग्य-रेखा की तरह
चीरती हुई
सफ़ेद बलाका उड़ती चली जा रही है
क्षितिजहीन....

अब भी पहले की ही तरह
मेरी निवेदित दृष्टि

इस कभी न ओझल होने वाली बलाका के साथ
अनुपस्थित गन्तव्य की नीलिमा में खो जाती है।

अब भी पहले की ही तरह
मुकुर की सतह को सहलाता हुआ
हवा का परिचित झोंका
निकल जाता है
और प्रतिबिम्ब के स्थान पर
धुँधली भाप के बीच से
उदित होती हैं
दो भीगी गदोलियाँ
और महीन धागों की तरह स्पन्दित शिराएँ।

अब भी पहले की ही तरह
इस शैल पर खड़ा हुआ
मैं विसर्जित करता हूँ
अनुभूति के निश्शेष
हवाओं को, गुमसुम शिखरों को, धनुषांकार नदी को,
निश्शब्द....

मैंने तुम्हें एक झलक दिखलायी है
जो मैं अपने साथ लाया था
और सन्ध्या के पहले
जब इस शिखर से उस शिखर तक
साँवला सूर्यहीन प्रकाश फैल जायेगा
तब मैं फिर वापस चला जाऊँगा।
पीली रोशनी की खिड़की वाले कुटीर में
सफ़ेद काग़ज़ पर बनते-बिगड़ते आकारों को देखने।

मैंने अँधेरे के बीच से देखने की कोशिश की
और कुछ नहीं पाया

अदृश्य प्रवाह के अतिरिक्त;
और मैंने देर तक देखी है
गुज़रती संध्याएँ
आधी रात में छिटके तारे
पत्थर पर चुपचाप बैठी चिड़िया
काले पड़ते जंगल
और सीढ़ियों की तरह दूर तक उतरते हुए विस्तार....
लेकिन इन सबके अतिरिक्त
काँच के सरोवर की तरह
एक व्यूह-बद्ध मौन है
दर्पण के इस पार
जिसे कुछ नहीं तोड़ता
क्योंकि उस तक कुछ नहीं पहुँचता
सतह को छूकर
सब कुछ घुल जाता है
और सुनहरी किरनों के जाल में बसी हुई
नीली, स्वतः सम्पूर्ण सृष्टि घनी हो जाती है।

तलाश, तलाश, अनवरत, अन्तहीन तलाश
जो पेड़ों की डालों में
सूने मकानों में
खण्ड-खण्ड चट्टानों में
भूरी चिड़िया की तरह उड़ती फिरती है।
पेड़ों के तने पीली आभा से ग्रस्त हो जाते हैं
चट्टानें गुब्बारों की तरह चमकने लगती हैं
नदी का सारा पानी दरार में समाने लगता है
और मंजूषा की तरह
मेरे साथ यह घाटी बन्द हो जाती है।
मैं जानता हूँ
चिड़िया पेड़ों के चारों ओर

उड़ान की डोरियों के
बेतहाशा जाल बुन रही है।
मैं बैठा हुआ
ज़मीन की ओर देखता हूँ
घास की पत्तियों को
जो अभी भी स्थिर हैं
और प्रतीक्षा करता हूँ :

> किसने मुझे इस स्वनिर्मित केन्द्र में छोड़ दिया
> जिसके चारों ओर खोखले समुद्र की तरह
> सिर्फ़ आलोकहीन विस्तार हैं
> और दूर किनारों पर
> भागते हुए मद्धिम नक्षत्रलोक?

मैंने यह चुना नहीं, लेकिन मैं ही था अन्तिम
क्योंकि मेरे बाद शृंखला खत्म हो गयी
जिस पगडण्डी से मैं आया था
अब वहाँ घटाटोप वन हैं :
शायद वह सीमा-रेखा भी नहीं रह गयी
जिसके बाद वापस जाना असम्भव है।

अतीत दूर होता जाता है, और साथ-साथ भविष्य भी
और मैं इस बीच के शैल पर खड़ा हुआ
केवल इस शून्य को भरने के लिए
विसर्जित होता जाता हूँ;
मेरे हाथ निस्सीम में फैलकर ओझल हो गये हैं
और मेरी दृष्टि स्थिर हो गयी है
अथाह....अथाह....
सीमा शून्य की नहीं
दृष्टि की परिधि है।

शमशेरबहादुर सिंह : अ. ब. स. रायजादा

[एक कलाकार सुर्रियलिस्ट स्केच]

1.

बादलों का चौड़ा मुँह
        दाँत-से दिखाता,
        भोले।
हिलती घाटियों-सी लम्बी
चौड़ी लहरें,
        निःस्पृह।
        ....क्रिसक्रास-तार के कटघरे
सन् '42
और उनके भी—पार
        आकर
    खड़ा वह
    आर्टिस्ट, स्वस्थ—
    फ़ौरमैन कला का,
    सिपाही,
    केवल
जीनियस ही नहीं।
चढ़ती
समय की एक उठती-सीधी
बेल
चुपचाप :
पलों की डाल
पर :
मौन जानकारी-सी
एकाएक खिल उठती
ऊपर
सुन्दर सरल
आश्चर्य-सी
अकेली

× × ×

नील चतुर्दिक् लोपता से उभर
चौखुँटों से
झाँकते
बादलों के झूले
आ-आँखों पर
लग
× × × हंडे-से, सूर्य के
जड़ाऊ झील में
चमकते हैं
बातचीत में
—कि व्यर्थ विस्मय
से।
खुली आँख के
काजलडोरे,
स्थिर....

2.
तीक्ष्ण
  भाले की एक नोक
    बादलों से निकल
ऊपर
आसमान की दो बेलों को
कर इंगित
चौड़े-चौड़े पत्तों-सी उन लहरों
    के भी ऊपर वह
भाले का फल :—
कमर-तुली कोमल
तन्वंगियों की स्थिर बेलें
लक्षित कर जो
—पीता है मिट्टी का रस
भीना लहरीला मधु, स्थायी
वह भाले का रस।

3.
भौंहों में कुंचन
भर
ध्यान
हँसा।
लहरों के होंठों पर वह
फैल—फैल—
जंगल-सी सागर की
गहरी हरियाली पर
आँधी को वश में कर
उठती गिरती है जो
वक्ष में
समय के
स्थिर।

4.
आँख
मोर की-सी
गर्दन पर धरी,
झुकी हुई गर्दन पर,
व्यग्र
मन।
प्रश्न-दृष्टि :
''तोड़ तरी के नर्तन को
....रंगों में बह,''
इंद्रधनुष :
भाव—
सजल, पल,
झिलमिल कर....
मोती के चूरे का आँगन है
जिस पर

स्थिरतर
बादल से बँधी हुई है
एक कलगी
बहुमूल्य....
बहुत रजत झलमल फैला यह
कार्य,
रेत, रेत, रेत : मज्जा की लहरों में
हिलते—
प्रकृति का
दर्शन।

5.
वह पत्थर की चोच खोल
उड़ी आ रही है
उड़ी आ रही है
नीचे को ही
और इस ओर
× × ×
वर्षा का तार बँधा हुआ है।
भरे हुए
टंकी के शीशे के फ्रेम से
वर्षा का तार....
टप् टप् टप्
टंकी के जल के
शीशे में टेढ़ है।
इसी नीची चोटी से अपनी हम
....देख रहे हैं दूर, सागर के पार
निश्चिंत पहाड़ियाँ।
मौन, वह पश्चिमी घाट
स्थिर। चाँद के तले
जो है जगती का पालना।

6.

दर्पण
है
काला प्रतिबिम्ब
और जहाँ-तहाँ
ईंटों की तह-सी
इस
चुन्नत में
तिरछी हैं धरी....
नरकुल की घासों की
पाँतें, कट्ठीली....
काटों के तारों का
लोक है—
अपना—
जिसमें हम हैं
काले चूने से
पुते हुए दर्पण पर
स्थिरतम....
क्यों?

7.

गाल है गुलाबी
सूर्य भी
सागर का प्यार है
तारों से पूछो तुम
कैसे हमारे हो।
नींद के साक्षी तो
स्वप्न नहीं बनते हैं
तारों के नभ के।
बच्चों का होना भी
स्वप्न में
हमारा है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : सर्प-मुख के सम्मुख

कैसी विचित्र है ज़िन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ।
एक सड़ा कपड़ा जो फटता जाता है
ज्यूँ-ज्यूँ सीता हूँ।
जब भी काढ़ने चलता हूँ
कोई सुन्दर फूल,
एक पैबन्द लगाता हूँ,
और इस तरह बनाता जाता हूँ
एक लबादा, जिसे हर बार ओढ़ने पर
थर्राता हूँ, फिर भी ओढ़ता जाता हूँ।

तनी हुई मुट्ठियाँ
अक्सर दर्द करने लगती हैं
खुल जाती हैं,
और लोग फैली हई हथेली पर
तिरस्कार की दृष्टि डालकर चले जाते हैं,
जैसे कि वह भिखारी की हों।

मैं देना चाहता हूँ
वही नहीं जो मेरे पास है
बल्कि वह भी जो आने वाली
शताब्दियों में मेरे पास होगा,
लेकिन होंठ काट कर रह जाता हूँ।

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा होऊँ!
घर के आँगन में?
जहाँ एक ढका हुआ कुआँ है
जिसके पटरे हर बार खींच दिये जाते हैं
मुझे उस सीले अन्धकार में गिराने के लिए,

और मैं चारों ओर घिरी अलंघ्य दीवारों की काई पर
नाखूनों से अपने बच्चों को खुश करने के लिए
आदमियों की जानवरनुमा शक्लें बनाता हूँ
ताकि वे मुझे ऊपर खींच लें
लेकिन फिर-फिर गिरा दिया जाता हूँ।

अक्सर सोचता हूँ
मैं कहाँ खड़ा होऊँ!
घर के बाहर सड़क पर?
किसकी प्रतीक्षा में?
उनकी जो पहचानते हैं तो देखते नहीं
और देखते हैं तो पहचानते नहीं,
जहाँ हर क्षण अविश्वास और आशंका से भरी
असंख्य दृष्टियाँ, मुझ पर पत्थरों-सी बरसती हैं,
और मैं उनके ढेर में जीवित दफ़न हो जाता हूँ
लेकिन हर बार चोट खाये हुए अन्धे चूहे की तरह
बाहर निकला हूँ।

अक्सर घबराकर
आदमियों की बस्ती से दूर चला जाता हूँ,
किन्तु शाम होने पर
उसी बस्ती की टिमटिमाती अन्धी रोशनियाँ
अपनी टूटी बाँहें फैला मुझे बुलाती हैं
और मैं जाने क्यों फिर लौट आता हूँ
घरों से निकलकर सड़क पर बैठे
बेपनाह साहसी धुएँ से आँखें चुराता हुआ।
'सुनो' जब मैं किसी को आवाज़ देता हूँ
वह चीखकर भाग जाता है
और जब कोई स्वयं मेरी ओर बढ़ता है
मैं आँखें बन्द कर लेता हूँ।

उपलब्धि के नाम पर
मेरे पास एक झोला है
जो खंडित मूर्तियों से भरा है।

यह मूर्ति शक्ति की है—
जिसके पैर ईश्वर से प्रार्थना करते समय
गिर कर टूट गये हैं।

यह मूर्ति प्यार की है—
जिसकी भुजाएँ किसी कायर
कंचन काया की विवशता उठाने में उखड़ गयी हैं।
यह करुणा की मूर्ति है—
जिसकी आँखें स्वार्थ की भट्टी के सामने
खड़े रहने से जाती रही हैं।
यह मूर्ति ईश्वर के विराट् रूप की थी—
जिसका अब केवल
पेट ही पेट रह गया है।
उपलब्धि के नाम पर
मेरे पास बस यही
कुछ खंडित मूर्तियाँ हैं।

गहन व्यथा के क्षणों में
मैं अक्सर इन मूर्तियों से टकराता हूँ,
और स्वयं से टूटता हूँ
विलग हो जाता हूँ;
किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हूँ
और अपने अस्तित्व की
एक-एक ईंट गिरती हुई देखता हूँ;
लोग आते हैं
अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते हैं
और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।

हर ओर एक जड़ता
नहीं-नहीं, एक मृत्यु है

जिसके सामने मैं अपने को खड़ा पाता हूँ,
और अन्त में कहीं कोई राह न मिलने पर
अपनी ही पराजय के सर्प-मुख के सम्मुख
आहार के लिए रक्खे गये मेढक-सा
निश्चेष्ट बैठ जाता हूँ।

कैसी विचित्र है यह ज़िन्दगी
जिसे मैं जीता हूँ

फिर भी मैं
ज़िन्दगी का एक गीत गाना चाहता हूँ।

यद्यपि मेरे लिए
हवा ने अपने केश उतरवा लिये हैं;
फूलों ने रंगीन कपड़े पहनने छोड़ दिये हैं;
निर्झर अरगनी पर पड़ी सफ़ेद धोतियों से टँगे हैं;
और नदियाँ सिलवट पड़े मैले बिस्तरों-सी बिछी हैं;
सूरज किसी बन्द स्कूल के घंटे-सा लटका है;
चाँद आकाश की झील में
रात भर तैरते-तैरते थककर
मरे हुए हिरन-सा उतरा आया है;
चिड़ियाँ मिट्टी की हैं
गातीं नहीं, टूट जाती हैं,
पेड़ों को झकझोरने पर भी
पत्तियाँ नहीं हिलतीं।
फिर भी मैं जागने का
एक गीत गाना चाहता हूँ।
यद्यपि मैं अपने ही
सितार के टूटे-बिखरे तारों में
उलझकर गिर पड़ा हूँ;
रास्ते संध्या की ढहती मीनारों से रुँध गये हैं;
सितारे कील की तरह पलकों पर जड़े हुए हैं
और साथी सीली हुई दियासलाई की तीलियों-से
असहाय हैं;

हर क्षण—
भरी हुई मछली के मुख-सा खुला हुआ है,
हर स्थिति—
टूटी हुई सीढ़ियों-सी जल में डूबी हुई है।

फिर भी मैं आगे बढ़ने का
एक गीत गाना चाहता हूँ।

मैं कहना चाहता हूँ—
''यह कायरों का देश है'',
यहाँ लोग देखने को आगे देखते हैं
चलने पर पीछे चलते हैं,
घुनी लकड़ियों के धनुष बनाते हैं
और विवेक के नाम पर
प्रत्यंचा चढ़ाने से मना करते हैं,
बौनों के समाज में
घुटनों के बल चलने की शिक्षा देते हैं,
छोटी चारपाइयों के हिसाब से
आदमी के बढ़े हुए पैर काटकर
सोचते हैं, उसे सुख और आराम दे रहे हैं,
लेकिन एक भी स्वर नहीं फूटता है;
होंठों पर उँगली की तरह कोई एक वाक्य रख
जाता है—
''जिसमें जितना ही रस होता है
वह उतना ही निःशब्द टूटता है।''

फिर भी मैं
साहस का एक गीत गाना चाहता हूँ।
—ज़िन्दगी का गीत।

एक दिवंगत कवि

(देवेन्द्र गुप्त)

मंजिल

भूल जाना चाहता हूँ
बगैर मंजिल....
महफ़िल में अब तक जिया
मैं भूल जाना चाहता हूँ।

ख़ामोश सड़क के खम्बे,
दीवालों पर चिपके पोस्टर,
खम्बों के साये
और हवा से फड़फड़ाते हुए पोस्टरों के
फटे हुए चेहरों से मेरी पुरानी पहचान है,
सभी बेजान चीजों का मैं अपना हूँ
क्योंकि उनकी अपनी कोई आरजू नहीं होती।

यशोदा के कोठे पर दादरा ठनकता है
दमयन्ती काले सेठ को अपनी बगल में लिए सोयी है
राधा की निगाहें सड़कों पर हैं
चन्द पैसों के लिये।

नीचे दूकान के तख्ते पर मैं अन्धेरे में....
या अन्धेरा मुझमें समा गया।
सोचता हूँ
कहूँ *[ऐसा मत करो....आज की रात आराम से सो]*
ये पैसे लो और हैं

अन्तहीन यात्रा की थकान

थका हुआ मैं
एक अन्तहीन यात्रा पर
बेबस!

अभी पिछली बार यहाँ आया था।
सब कितने खुश थे।
लेकिन यह वापसी—
मेरे बच्चे, मेरे माँ बाप,
हिलाते हैं अपने रूमाल।
सिर्फ एक तुम हो,
  जो,
आँखों में पानी की परत लिए
    देखती रहती हो।
    सच! तुम!
    बेहद खामोश रहा करती हो।

रूमालों से निकल कर
एक तेज़ किन्तु उदास,
हिन्दुस्तानी इत्र की गन्ध
मुझ तक पहुँचती है।
मैं तुम्हें अपने बहुत करीब,
  महसूस करता हूँ।
यह तुम्हारा पसन्ददीदा इत्र,
    जानता हूँ।

जब मेरा जन्म हुआ,
किन्हीं सम्बन्धियों का दुःख
माँ की चीख़ों में फूट आया था।
अब इसी यात्रा के दौरान में,

फिर वही दिन आयेगा,
जब तुम्हारा दुःख!
किसी अनजान लोक की स्त्री
के आस-पास
खड़े लोग सुनेंगे।

अजनबी

हर छोटी-बड़ी चीज़।
मुझे अपने से भाग्यशाली लगे
इस अजनबी
परिस्थिति में
तुम्हीं!
मुझे लाये हो!
भला! कोई बात है?
मामूली से मामूली
स्थिति!
मुझे निगल जाने को,
अपना,
मुँह बाये हो।

रुकावट

सूखी मिट्टी पर
घास के तिनके सा,
यह मेरा बच्चा!

लाख रोकने की कोशिशों के
बावजूद, जन्मा है।
साहसी है।

जूझेगा अवश्य ही
उन परिस्थितियों से,
जिनमें बिंधकर
इसे,
पैदा होने से
रोका गया था।

धूप

कुछ ऐसा होगा,
या,
कुछ वैसा होगा,
....
शायद, कुछ,
ऐसा ही होगा।
मन्दिर की बुर्जी पर,
धूप!
चमक आयी होगी!
बुर्जी से छज्जे पर;
छज्जे से आँगन में,
धूप!
उतर आयी होगी।

नहा चुकी होगी
तुम!
आँगन में झूल रही
तार की अलगनी पर
गीले बदन—तुमने!
धोती फैलायी होगी....।

चौके में,
आँगन में,
आँगन से, जीने पर,
धुआँ, धुआँ....धुआँ!

आँगन—दीवालों पर,
देहरी और आलों पर,
धूप, धूप....धूप!

नयी गुजराती कविता

(ज्योत्स्ना मिलन)

स्थल-काल के संदर्भ से परे जिस सर्जनात्मक अभिव्यक्ति को 'कविता' कहा जा सकता है, उसके आगे कोई विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर जब तक अभिव्यक्ति इन परिमाणों की छाया में से गुजरती है तब उसे अलगाने के लिए समूचे प्रवाह को विशेषण-युक्त नाम दिया जाता है।

प्रश्न यह है कि कौन सा तत्त्व है जो कविता को नवीनता प्रदान करता है? यों देखा जाय तो वस्तु हमेशा से वही रही है, शिल्प ही बदलता आया है। सतही तौर पर यह बात सही भी हो सकती है, किन्तु जरा गौर करने पर पता चलता है कि वस्तु कच्चे माल के रूप में तो वही रही है, लेकिन अलग-अलग युग में, मूलभूत संवेदनाओं, भावनाओं का अलग-अलग संयोजन हुआ है, अलग-अलग परिभाषा में हुआ है। इसके उपरान्त हर युग का अपना एक खास वेदनतन्त्र होता है जो अपने विशेष अवकाश और आकार में से गुजरनेवाली, जगनेवाली अनुभूति को एक विशेष आकार, अवकाश और अभिव्यक्ति की संभावना प्रदान करता है।

हर युग की अपनी एक विशेष संवेदना होती है, जिसे उस युग का वेदनतन्त्र आकार देता है तभी विशेष रूप में पहचाना जा सकता है। इसी प्रक्रिया के दौरान अनुभूति की अभिव्यक्ति पाने की सामर्थ्य स्वयं भाषा को नया मोड़ दे देती है। जिस सर्जक का युगबोध पारदर्शी और पैना है उसे नयी भाषा गढ़ने का श्रेय मिल जाता है। इससे यह कहा जा सकता है कि वस्तु स्वयं नहीं बदलती, उसका प्रमाण और आकृति बदलती है; तथा शिल्प-अभिव्यक्ति की दिशा में 'अ-रौंदी राहों' की खोज ही उसका मूलभूत तत्त्व है।

मेरी समझ में अनुभूति का रूप, अवकाश और सामर्थ्य के अनुरूप स्वयं नयी और सर्वथा उचित अभिव्यक्ति खोज कर ही आकार पाता है। इसका आधार इसी पर है कि यह वेदनतन्त्र के किस विशिष्ट कोण से और कितनी गहराई से आती है?

कविता या किसी भी सर्जनात्मक विधा के बारे में सोचते हुये जैसे हम समग्र युग-बोध समय-बोध के बारे में विचार करते हैं, वैसे ही उसके विशेष स्वाद को पहचानने के लिए उसके खास स्थान-बोध के बारे में भी सोचना पड़ जाता है। एक युग का एक वेदनतन्त्र, उसकी अपनी एक संवेदना को जन्म देता है, पर उसी युग के कई स्थान बोध उसे विशिष्ट स्वाद देते हैं, विविध रंग और आकार देते हैं। लेकिन इसके बाद

भाषागत विशेषताएँ अनुभूति को अभिव्यक्ति देकर जो रूप देती है, उससे यह आभास होने लगता है, जैसे अनुभूति ही बदल गयी है।

और इसी दृष्टि से समग्र अद्यतन कविता के संदर्भ में, गुजरात की भूमि में जन्मी कविता में आज की युग-चेतना ने किस हद तक आकार पाया है, अपनी समस्त सामर्थ्य के साथ यह देखना ही इस लेख का प्रयोजन है।

आज समय के इस मोड़ पर आकर मनुष्य असहाय जैसा हो गया है। दो पाँव, चलना जिनकी अनिवार्यता है, वे दिशाहीनता के बोध से पथ के अभाव में गति को थाम कर रुकने के लिये विवश हो गये हैं। भीतरी अशान्ति, बेचैनी, असहायता अन्तर्विरोधों की खींचातानी के नैरन्तर्य में ही भटक गया है वह। किसी भी चीज, मनुष्य या ईश्वर के प्रति की एक सहज आस्था में जीना भी उसके लिये सम्भव नहीं रह गया है। सहज विश्वास की धरती ही खो गयी है; निरन्तर आशंका, प्रश्नाकुलता....। लेकिन इस विश्वास को खोकर भी नहीं खोया जा रहा है, दोनों के बीच है उसकी भटकन। उतने बड़े अभाव को भरने के लिये क्या है सामने? भावी क्या हो सकता है इस युग का, इस समय का जो कि मृतप्राय है? हर तरह से मनुष्य और-और कटता जा रहा है परस्पर से स्वयं अपने आप से भी। ऊष्मा की आश्वस्ति भी बिला रही है। कर्म के आनन्द में जी पाना भी, गति का सहारा पाने दौड़ती रहने के कारण हो आयी मशीनी चेतना के लिये सम्भव नहीं रह गया है। इस विज्ञान-युग ने सहज आस्था-आश्वस्ति को तो रुख़सत दिलवा ही दी, पर साथ ही उस शून्य में ले जाकर पटक दिया जो किसी अन्य शून्य का सहारा लेने के प्रयत्न में और अधिक गहरा हो उठता है।

इस युग का वेदनतन्त्र इसी संवेदना में जीने को बाध्य हो गया है। एक अजीब, भयंकर एकलता और निरन्तर भटकन के संत्रास में से उसी को व्यक्त करने को विवश हो गया है आज का सर्जक-कलाकार।

उमाशंकर जोशी तथा सुन्दरम् ने गाँधी जी के प्रभाव तले दलित-पीड़ित समाज के यथार्थ को कविता में स्थान दिया था प्रमुख रूप से। विचार-प्रधान कविताएँ सिरजी गईं। सॉनेट एक विदेशी कविता प्रकार गुजरात की भूमि में खूब फला जो आज भी लिखा जाता है, इन लोगों के समय में खूब लिखा गया। बलवंतराय ठाकोर ने इस प्रकार को अधिकाधिक शक्यताओं के साथ गुजरात को दिया था। इसके बाद राजेन्द्र निरंजन आये। इन्होंने दिया अधिक आन्तरिक, भाव प्रधान गीति संवेदन। नये लय-छन्दों का आविष्कार। शब्द-ध्वनि की परख इस समय की कविता में विशेष ध्यान खींचती है। इन्होंने साथ ही, विशेषकर निरंजन भगत ने, आज के युग-बोध को अपनी कविता में व्यक्त किया है। गुजराती कविता में इस युग का बोध स्पष्ट रूप से उमाशंकर जोशी में लक्षित किया जा सकता है। मनुष्य जी रहा है बस जी ही रहा है मरे हुये की तरह। ऐसे लोगों के बीच बसा हुआ कवि कह उठता है—

'मने मुड़दानी वास आवे'

सारा युग इस आसन्न मृत्यु से ग्रस्त हो गया है; तब कवि उस समय को ज़िन्दा रखने के प्रयास में जुट गया है। टूटते हुये विश्वास ने एक शून्य पैदा कर दिया है, एक भटकन दे दी है, जिसमें कहीं टिकाव नहीं है हवा की तरह। सत्य का आभास मात्र मिलने पर, यह जानते हुये भी कि यह सत्य की छलना मात्र है, हम उसका व्यर्थ सहारा लेने दौड़ पड़ते हैं। विश्वास टूट कर भी नहीं टूट रहा। सारे अंतर्विरोधों का खींचातानी का आलेखन सुरेश जोशी ने एक छोटी सी कविता में किया है—शीर्षक है 'हूँ' (मैं)

> ''अन्धकार के मरुस्थल में
> मृत चन्द्र के प्रेत की तरह घूमता फिरता हूँ।
> पवन की तीक्ष्ण अस्थि-साण पर,
> भोथरे हो गये शून्य की धार निकालता रहता हूँ।
> तेज के मृगजल की गहराइयों में जाकर,
> अपनी छाया उतार, डुबो देने का यत्न करता हूँ।
> मूर्छित ईश्वर की, कोरी आँखें निचोकर
> इस मुमूर्ष काल के मुख में बूँद-बूँद टपकाता रहता हूँ।''

इसी मृतप्राय: समय की जड़ता, मानसिक अवसन्नता कवि के भीतर को मथ देती है। 'क्या जो कर दूँ'....? की वेदना में से कवि का शब्द अपनी समस्त सामर्थ्य के साथ बोल उठता है। गुलाम मोहम्मद शेख लिखते हैं—

> जी चाहता है
> कि जम गये नारियल के तेल जैसी
> पूस की चाँदनी को
> मसल कर
> सारे शरीर पर घिस दूँ,
> जिससे शायद,
> मेरे शरीर में बुझ गये ज्वालामुखी
> फिर से उग जायँ।
> जी चाहता है
> कि धूल के टूक-टूक अंगों को
> किसी आदिम वेदना की डोर से सी दूँ
> कि जिससे फिर एक बार
> पत्थरों में वाणी फूट निकले,
> इन वीरान घास के हलों पर

अपनी देह के खेत फिरा दूँ
तो शायद चमड़ी में नमी आय,
हीरे की जगमगाहट वाली इस रात पर
शैतान के उर्वर मस्तिष्क के लौहजड़ित
हथौड़े ठोंकूँ,
तो उसके नीचे घुस रहे ईश्वरों को
मकड़ी होकर निकलना पड़ जाय
हिम-शीतल ताँबे जैसी पृथ्वी पर
पृथ्वी के प्रथम मंत्र की लकीर खींच दूँ
और
गुफाओं के अंधकार में गड़ गई समय की सिलवटों पर
मरे हुए सूर्यों की ठंडक दबा दूँ
तो फिर से,
मेरे वन्य पशु नींद में छिड़ जायँ
और—!

दूसरी तरफ आज मनुष्य का जगत छोटा हो गया है, भौगोलिक दूरी मिटी है पर मनुष्य-मनुष्य के बीच की भावनात्मक दूरी बढ़ गई है—

आज मनुष्य का जगत् सिमट आया है, भौगोलिक दूरियाँ मिट गयी हैं, काफी हद तक। पर मनुष्य के बीच की भावनात्मक दूरी बढ़ गई है। दो भिन्न कवियों द्वारा अभिव्यक्त एक ही अनुभव को साथ-साथ पढ़ना अधिक उपयुक्त होगा। निरंजन भगत कहते हैं, 'फाउन्टेनना बस स्टॉप पर' कविता में—

'एकमेक की ओर पीठ करते
कंधे से कंधा टकरा कर जाते
फिर भी कोई कंप नहीं।
दो हृदय, दो बालिश्त की दूरी पर भी,
स्पर्श से कोई सेतु नहीं रचते
जो कि पास के ही तारघर में
क्षण भर में ही रचा जाता है
हज़ारों मील की दूरियों पर।'

और प्रियकान्त मणियार भी यही बात कहते हैं अपने ढंग से—'आपणे सौ' ('हम सब') कविता में—

''शब्द?
किसी शब्द के अक्षरों की तरह
हम सब कितने निकट
फिर भी जिसका कोई अर्थ,
नहीं निकलता।
मुझमें तुममें कोई भेद नहीं,
किसी अख़बार की हज़ारों प्रतियों जैसे हम सब।''

और तो और अपने ही दो व्यक्तित्व एक दूसरे से इतने दूर हो गये हैं कि वे समानान्तर चलते हैं; बीच की कोई दीवार उन्हें मिलने नहीं देती।

''दीवार के दोनों ओर खड़ा,
मैं अपने आप से मिल नहीं पाता हूँ।'' *[सितांशु यशश्चन्द्र]*

तो कभी आदमी अपने आपको कई खंडों में बँटा हुआ पाता है। उसका खंड-खंड बिखरता अस्तित्व कोई सार्थक एकता नहीं रचता। व्यक्तित्व की इस शतखंड टूटते के दर्द को उमाशंकर जोशी ने अपनी 'छिन्न-भिन्न छुं' कविता में व्यक्त किया है।—

''मैं छिन्न-भिन्न हूँ, मैं बिखर गया हूँ
मैं अपने को छंदहीन कविता में लय की तरह खोजता फिरता हूँ।
......
मैं विभिन्न घरों से प्राप्त किये जाने वाले,
उन रोटी के टुकड़ों की तरह हूँ,
जो भिखारी के पात्र में अभी एकत्रित नहीं हुए....।''

और इसी कविता में दिखाया है कि किसी चीज़ के आभास मात्र छलना मात्र को जान कर भी हम उस नश्वर, क्षण भर का और वह भी आभासी अस्तित्व लिये आते काल-खंड में, इसी सत्य का साक्षात्कार करते हुए जीते हैं। गहरी, सचोट अभिव्यक्ति कवि ने 'न-कुछ' से शब्दों में दी है—

''और फिर भी साबरमती का यह पतला सा प्रवाह
—अनंत की मृगछलना के पीछे दौड़ता हुआ एक निर्दोष हिरन....।''

बैसाखी लू के प्रवाह में, साबरमती के पुल पर से गुज़रते हुए क्षण भर को आश्वासनों के बीच कवि अपने व्यक्तित्व को हर साँस में बिखरता पाता है।

आदमी ने अपने मूल रूप में से कई प्रतिरूपों को जन्म देकर आदिम रूप को ही खो दिया है। उस आदिम रूप का वियोग स्वयं अपने से ही वियोग है और अब उसी में झरना....। 'कुच्छ नहीं-ता' की गहरी खाइयाँ जिसके तल में बसे हैं कब्रिस्तान, जिनमें पत्थर की कब्रें हैं, उन लोगों की जो अभी मरे नहीं हैं। सितांशु यशश्चन्द्र ने

'मध्यरात्रि' शीर्षक कविता में मध्यरात्रि को प्रतीक बनाकर ऐसा ही कुछ कहना चाहा है—

'शून्यम्!
पोताना एकमेव रूपनी छायानां
सपादलक्ष उपजावी लीधा छे एणे प्रतिरूप,
प्रतिरूपे, प्रतिरूपे आदिमरूपनो वियोग....'
....
....
'ऊँचा नीचा तारासनों ने अडीने
अनिवार्य
कँई नहीं-तानी ऊँडी खीणो
न खूटे तेषी खड़काई छे,
तलि़ये तलि़ये वसेलां कब्रस्तान....
कब्रस्तान कोना....?
पत्थरिया कबरो,
मड़ा-पकड़े,
हजी तो जे मयी ज नथी
तवा ओनां हाडपिंजरोने जडबेसलाक पकड़ी ने बेठी छे....'

और वैसों को आदिमरूप का योग होने की कोई संभावना नहीं, पर कवि कहता है यदि वह जिन्दा है तो—

'स्पर्शनी विपलने ये पारखी शकनार
[1]टेखाँ
चक्र शंखना लंब वर्तुलोना रस्ताए ब्रह्मांडों माँ भम्याँ करे छे,
त्वचानी कबरे दफनावेला,
मारा जीवता हाडपिंजरमाँथी
क्यारे, हवे क्यारे
मध्यरात्रिनुं आदिमरूप
पड़छायाना अंचलाभाँथी सूर्योने सेखतुँ
ऊगी नकील़शे,
मारा,

1. टेखाँ—उँगलियों के पोर :

कविना कराग्रे।'

इस कविता का शिल्प भी ध्यान खींचता है।

इस युग की विशेष संवेदना ने दृष्टि ही बदल दी है और इसी से कुछ प्रतीकों द्वारा बारीकियों को संदर्भित कर विशेष अभिव्यक्तियाँ हुई हैं। बनजारों के काफिले को यायावर आत्मा का प्रतीक बना कर 'रोज राते' कविता में एक यायावर की यातना की अनभूति से जागते कई संदर्भों का सार्थक उपयोग किया गया है।

''रोज रात देखता हूँ
गाँव के छोर पर खड़े इमलियों के झुंड में से
या कि अस्थिपंजर लिये खड़े खँडहरों में से
या कि अष्टकोणी बावड़ी के पाताल में से
या कि दूर वन के गहराये अंधकार में से
या कि चन्द्रमा के लांछन में से
या फिर मेरी ही छाया के पीछे से
चला आता है कोई मौन बनजारों का काफ़िला।
उनींदी आँखों से मैं गिनता हूँ,
पर उसका कहीं भी कोई अन्त नहीं।
सब के चेहरे मिटे हुए, कहीं भी नहीं है वाणी का उच्चारण
सिर्फ कराहते मौन की हलकी सिसकियाँ
हिचकियाँ भरती हवा का धुँधला आभास
बिलकुल तल तक खींच ले जाता है किसी के निश्वास का बोझ....
रन्ध्र रन्ध्र में फैलता है किसी का धूसर अत्याचार
क्या कल सूरज भी होगा ग़रीब, बेचारा लाचार?''

एक और अजीब अनुभूति! गतिशील पटरियाँ जब यार्ड में पहुँच कर रुक जाती हैं, तो उन्हें देख कर होती अनुभूति सितांशु यशश्चन्द्र की कविता में दर्शनीय है—

''[1]रेबझेब मुट्ठीवाली आंधती [2]दोट मूकी
नाठेला पाटाओ,
जराकमाँ तो [3]गोथा खाई, अथड़ाई, टींचाई गूँचवइ जईं,
भाँगेला नलाए [4]कणसता कणसता,

---

1. रेब झेब—पसीने से तरबतर
2. दोट—दौड़ लगाना
3. गोथा खाई—गुलाट खाकर
4. कणसता—कराहते

चोपास पडया छे।''

और जब पहिए वहीं के वहीं उन पटरियों पर घूमते हुए गिर पड़ते हैं तब की उनकी चीख़ का वर्णन एक चित्र खड़ा करके अनुभूति को और धार दे देता है—

''दक्षिणाकाश भणी[1] तंग थता हताश कूतराओनी भाषा माँ
पोली, तीणी लांबी चीसो पाड़े छे।''

तो कुछ अच्छे व्यंग्य समाज पर खास ढंग से किये गये हैं। एक ही उदाहरण काफी होगा। शीर्षक है 'गाय'। कवि प्रियकान्त मणियार :—

''कहीं से,
भूली भटकी हवा मात्र चली आती है; नहीं है तृण
चतुर्दिक में कहीं; तप्त कण हैं रेत के, धूप बिछी
और काया तो रह गई है केवल अस्थि-पंजर
फिर भी वह साँस ले रही है *(इसी से होता है आश्चर्य)*
—हाथों में आ गयी मृत्यु को चबाती।''

दूसरी ओर नगर जीवन की यान्त्रिकता ने मनुष्य को जो यान्त्रिकता बख्शी है और उसमें से सर्वनाशी भय ने जो आकार पाया है वह भी कविता में किस रूप में अभिव्यक्त हुआ है, देखना होगा। निरंजन भगत की दो लम्बी कविताएँ, विशेषकर नगर जीवन के सही रूप का परिचय देती हैं। कुछ अंश दर्शनीय हैं:

''छताँ अहीं, वही रही हवा महीं अनन्य वास!
आ हवा नयी, अगण्य आ निसास,
जे अहीं तहीं सदा भमे, नभे न निर्गमे
ग्रसे विशाल जाल ट्रामना आनेक तारनी, कदीय ना शमें....''

ऋतुएँ सब मालूम होतीं तो हैं। पर कैसे?

''मोसमो वधी कल़ाय छे, न थाय भूल
फूलथी नहीं, न शीत-लू थकी
परंतु स्मोल पोक्स, टाइ फोइड-फ्लू थकी।....''

अस्तित्व की सारी ताक़त ही बिला गयी है। प्रकाश का बिंब शीशे में पड़ता है तो भी पत्थर पर पड़े हुए की तरह बिला जाता है, परिवर्तित नहीं होता।

''प्रकाश बिंब, दर्पणे न, पत्थरे पड्युं शमें, कदीय पाछुँ ना फरे।''

क्या ये सब सिर्फ छायाएँ हैं अपनी या प्रेत कायाहीन? किसी के मुख पर कोई भी भाव नहीं। जनसमूह को देखकर कवि को लगता है :—

---

1. भणी—ओर, तरफ

''समग्र आ समूह शो स्मशान यात्रिको समो सरे
अवाज मात्र पायनो, गभीर मौन सौ मुखे धरे....
....
परंतु लाश तो नयी खभे, छतां य लागतुं वजन....''

(फ्लोराफाउन्टनना बस स्टॉप पर)

लोकल ट्रेन का स्टेशन चर्चगेट पर जहाँ से ट्रेन चलना आरंभ करती है उसका वर्णन करते हुए लिखा है—

''प्लेटफार्म चर्चगेट
होय शुं न कोई बेट
चारकोर काँच काँकरेट लोहनो समुद्र''....।

एक तरफ समुद्र और दूसरी तरफ कब्रिस्तान बीच से गुजरती है ट्रेन—

''समुद्रना तरंगने न एहनो लय द्रुत
न कब्र ने छ एहनी विशालता गति
मुसाफरो समी ज मृत्यु-जिन्दगी बचे पसार थै जती''....
''मुसाफरो असंख्य मुसाफरो
नटो समान वेश शो करे, धरे मुखे सुरमय म्होरुँ हास्यनुँ''

सहज हास्य भी खो गया, हास्य का भी मोहरा चढ़ जाता है।

विज्ञान के आविष्कारों की बदौलत आये इस यंत्र-युग ने एक सर्वनाशी भय को चारों ओर खड़ा कर दिया है। उस आसन्न भय का चित्र नलिन रावल के शब्दों में यहाँ पूरी कविता उद्धृत कर रही हूँ, खंड से इस कविता को पाना संभव नहीं है। 'बम्बई'

''जंगी वृक्ष को ढक कर,
उछलते अब्धि को आरे की सी काया तले भींच कर,
कहीं छूटने के लिये प्रयत्नशील आसमान को लाँघकर,
पकड़ जमाता हुआ
तीक्ष्ण जहरीली साँसों का चक्र लिये
विकराल पक्षी
यह
एक
खड़ा है यहाँ
विशाल आँखें, तीक्ष्ण लंबे नाखून, वह्निज्वाल जैसी
दृष्टि से लपेट में लेता, खड्ग जैसे पाँव टेक कर

खड़ा है यहाँ
यह
एक
भयंकर पक्षी
क्रोध से फुलाये कंठ,
इसके,
मुलायम रंगबिरंगे पंखों का पर्वत खुरदरा,
जिन्हें गिनते-गिनते हाँफ उठता है शैतान
किन्तु
यदि कभी वह,
भूख से तिलमिला कर
शिकार खोजता पक्षी
सहसा चीखता हुआ, पंख फड़-फड़ा कर
उड़ेगा तब....?....।''

यहाँ मैंने गुजराती नयी कविता को प्रस्तुत करने का प्रयास भर किया है। बल्कि यों कहूँ कि आज की गुजराती कविता को यथा संभव यहाँ प्रस्तुत किया है। हो सकता है कि शिल्पगत विविध प्रयोगों का परिमाण हिन्दी की अपेक्षा कम लगे। फिर भी मेरा नम्र अनुमान है कि हिन्दी के विस्तार के सामने गुजराती का विस्तार छोटा होते हुए भी औसत खास फर्क नहीं पड़ता।

कुछ लोगों का खयाल है कि अभी गुजराती कविता ने छन्द को नहीं छोड़ा है, इसीलिये वह नयी कविता नहीं है। लेकिन यह सोचना कि छन्द छोड़ने पर ही कविता नयी कहला सकती है, एक प्रकार का दुराग्रह है। छन्द गुजराती कविता ने भी तोड़ा है, लेकिन समग्र, सर्वांगीण अभिव्यक्ति के लिये सारी शक्यताओं का उपयोग कर लेने पर भी छन्द की सामर्थ्य कम पड़ने पर ही तोड़ा है। नहीं तो प्रियकान्त मणियार, सुरेश जोशी, गुलाम मुहम्मद शेख, लाभशंकर ठाकर, सितांशु यशश्चन्द्र आदि सभी कवियों ने नवीन तर अभिव्यक्ति के लिये छन्दों का सार्थक उपयोग किया है, छन्द अपर्याप्त पड़ने पर ही उसे तोड़ा है। समर्थछांदस अभिव्यक्ति के लिये सुरेश जोशी की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं :—

''अंधारनी रणरेतमाँ
मृत चन्द्र केरा प्रेत शो भमतो फरूँ''

या फिर नलिन रावल की ये पंक्तियाँ :—

''डोलती काली चमकती कीकीओ हींची, कूदी
लइ ताल भारी चाल साथे चालवा लागी''।

तो सुरेश जोशी की ही मुक्त छन्द में एक कविता का खण्ड कई पार्श्वों से खींचता है : सचोट, एकमात्र संभव, सार्थक अभिव्यक्ति :—

''आदि कालना जलनी नग्नताना स्पर्शे

सूर्यने थयेला रोमांचनुं

लाव तने पानेतर पहेरावुं''....

अंत में एक और बात है कि हिन्दी में आज गीत शब्द ने अपना अर्थ खो-सा दिया है। 'गीत' शब्द का उच्चारण करने पर लगता है कि यह कविता से कुछ भिन्न चीज है। जब कि गुजराती में कविता की ही कक्षा के नवीनतम गीत मिलते हैं। पहले गीतों के आरम्भ में ही काव्यात्मक अभिव्यक्ति रहती थी, लेकिन नवीनतम गीतों में अंत तक काव्यतत्त्व विद्यमान रहता है। गुजराती कविता का गीत पक्ष अपने आपमें एक स्वतंत्र लेख की अपेक्षा रखता है। इस युग की विशेष संवेदना की अभिव्यक्ति के समानान्तर ही दूसरा एक अतीव कोमल सर्वकालीन संवेदनाओं का प्रवाह भी नवीनतम शिल्प में अभिव्यक्त होता रहा है, गीतों के रूप में विशेष कर।

सव्याख्या

गिरिजाकुमार माथुर

पिछले दस वर्षों में नयी कविता कितनी ही शैलियों के रूप धरकर हमारे सामने आई है और भविष्य में उसका विकसित रूप कैसा होगा यह आज के नये और ताजे बीजों से स्पष्ट होने लगा है। नयी कविता की भागीरथी ऊबड़-खाबड़ चट्टानों पर से हरहराकर बहती हुई चली आ रही है।

मौजूदा कविता के अन्तर्गत वह दोनों ही प्रकार की कविताएँ कही जाती रही हैं जिनमें एक ओर या तो शैली, शिल्प और माध्यमों के प्रयोग होते रहे हैं या दूसरी ओर समाजोन्मुखता पर बल दिया जाता रहा है। लेकिन नयी कविता हम उसे मानते हैं जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्वों का संतुलन और समन्वय है। यह नयी कविता नये शिल्प और उपमानों के प्रयोग के साथ समाजोन्मुखता और मानवता को एक साथ अंजलि में भरे भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है। उसकी नजर अतीत की श्यामलता और वर्तमान के संघर्ष से आगे भविष्य पर टिकी है। जीवन की संघर्षजन्य कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कम्प है क्योंकि उसे विश्वास है कि आज चाहे जो स्थिति हो मानवता का भविष्य कल्याणमय है और वह हर अमंगल शक्ति पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त करेगी! इसीलिए नयी कविता पलायन, पस्ती और पराजय की कविता नहीं हो सकती।

प्रस्तुत दोनों कविताओं का यही 'एप्रोच' है। उनमें शिल्प और विषय-वस्तु का जो प्रयोग है वह इसी समन्वय के आधार पर उठा है। और यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम 'भविष्य' की ओर इशारा तो जरूर ही है।

देह की आवाज

मन ने शरीर से पूछा
क्यों है इतना आकर्षण
रसमय चुम्बकमय कसी देह का
चिकने मांसल तन का
उस नोकीली रंगीन नज़र का
लालच चन्द्रानन का
भोले ओठों के आस-पास
वह एक गुलाब-सा मंडल

वह खिला आयु का लाल कमल
क्यों इस वीनस से तन का
तुझको आकर्षण
इस देह-लता में
हैं सारे भौतिक दुर्गुण
वह हाड़-चाम की पुतली
मलिन अपावन
फिर क्यों तुझको मनभावन
पशुओं-जैसे सब काम
देह करती है
घिन भरी जन्मती,
जीती है, मरती है
इस देह-मोह से सब
अशान्ति फैली है
ऊपर से उजली
भीतर से मैली है
तन का आकर्षण
है पशु का आकर्षण
तू पशुता से ऊपर उठकर
मानव बन
है बुद्धि, ज्ञान ज़्यादा तुझ में
पशुओं से
इसलिए नेह तू लगा
ज्ञान छवियों से
तु मुड़ आत्मा की ओर
देख छवि उसकी
जिस गुण से होती है पहचान
मनुज की
अब तक जो चुप थी देह
ज़रा मुसकाई
अनगिन बसंत की

रंग-गन्ध उठ आई
ऐसी मुसकान कि जैसे
चाँदनि छाई
रितु-बीज छू गई
भावमयी चिकनाई
ज्यों शून्य गगन सहसा धरती बन जाए
बे-शक्ल हवा रसवती कली हो जाए
मधु ध्यान प्रिया का स्वयं प्रिया बन जाए
तस्वीर फ्रेम से उतरे चलकर आए
    बादल की छाँह
    खेत बन जैसे उमड़े
    खुद फ़सल उठे
    'नभ घटा बने औ' घुमड़े
    ज्यों धुन्ध याद का
    महासिन्धु बन ठहरे
    गिरि बने त्याग
    करुणा गंगा बन लहरे
कोरी, नीरस, निर्गन्ध बात पर मन की
इस तरह उठी मुसकान सलौने तन की।
उत्तर में फिर आवाज़ देह की बोली
सब रचना, कला-सृष्टि की सिहरी, डोली
जीवन-मिठास प्याले भर हो लहराई
स्वर, शब्द, रेख की हार गई चतुराई
झूमी चिर कुँवरि अनादि प्रकृति मद भीनी
विस्तार पा गई छवियों की रंगीनी
हो गई वनस्पति सुमनवती अलबेली
धरती सिहरी ज्यों उरजों छुई नवेली
    नक्षत्र खिले
    चाँदनी नई मुसकाई
    फिर वक्ष-मिलन
    चुम्बन की वेला आई

उन मुग्ध वधू
रितुओं की गीत रँगीले
बन कला-मूर्ति,
फूलों पर चले सजीले
काँपीं टूटीं स्वर सप्तक की प्राचीरें
भू नभ तक झंकारों की पड़ीं लकीरें
बोली यों देह, सुधा संसृति में भरती
मिट्टी की देह कि ज्यों मिट्टी की धरती।
वह राग-रूप
साकार गंध कस्तूरी
वह स्वयंप्रभा
हो गौर, श्याम या भूरी
मिट्टी ज्यों कली, फूल, फल, फसल खिलाती
यह देह-शिखा देहों के दीप जलाती
मिट्टी का बुझा दीप
धरती कहलाती
पड़ती है जब तक नहीं
देह की बाती
वे बुद्धि, ज्ञान, आत्मा की सभी अदितियाँ
हैं देह-तेज की ज्योतित भावाकृतियाँ
खिलता है देह-बीज से पंकज मन का
सूरज से उठता जैसे बिम्ब किरन का
हैं देह भोग-हित सृष्टि मधुमती के वर
लालिम चरणों में बिछी प्रकृति की केसर
यह नील-श्याम मानव जगती है मनहर
तन-रचना में मानव-तन सबसे सुन्दर
क्यों सीमित हो धड़कन तन की, प्राणों की
है सीमा कहाँ प्रकृति के वरदानों की
तन का विदेह द्युति-मंडल है मानवता
जो सीमित करे प्रकाश वही दानवता
इसलिए न बुझते

मनुज अग्नि के मोती
जिनसे गलकर
जग की नवरचना होती
उन तत्वों पर
यह देह विजय पाती है
इतिहास फसल
जिनसे मुरझा जाती है
है नहीं देह-तृष्णा
अशांति का कारण
जीवन-पियास जब
हुई न अभी निवारण
इसलिए अरे ओ मन विदेह!....
ओ एक देह के खंड-बिम्ब!
तू उस विराट् उजियाले में
दे मिला किरनमय निजता
जिस पथ पर चलती जाती नयी मनुजता।

तैंतीसवीं वर्षगाँठ

उम्र की इस सौ-खनी मीनार पर
मंज़िलें मैंने तिहाई पार कीं
ज़िन्दगी को खींचकर लाते हुए
राह की सौगात सारी वार दी
और भी ऊँची चढ़ाई सामने
और भी भारी लड़ाई सामने
यह भयानक खोखली मीनार है
शक्ति देता सिर्फ तेरा प्यार है
साँस लेने में रुकूँ, तुम प्यार दो
मन, नयन, तन, अधर की रस-धार दो
शक्ति दो मुझको, सलोनी! प्यार से
लड़ सकूँ मैं जुल्म के संसार से
बाँह गोरी मनुजता की ध्वज बने
छाप तेरे अधर की सूरज बने

फिर नई इंसानियत की ढाल दो
फिर नयन मेरे नयन में डाल दो
लाल आँचल से पसीना पोंछ दो
बाल पतली उँगलियों से ओंछ दो
उम्र की सारी थकान उतार दो
देह पर हथियार नये सँवार दो
क्योंकि दुनिया पर खिंची तलवार है
दैन्य, दुःख, अन्याय, अत्याचार है
आदमी पर आदमी का वार है,
विश्व-नैतिकता पतन के द्वार है।
आज दुनिया के करोड़ों आदमी,
सह रहे हैं धूप, सरदी, औ' नमी,
ज़िन्दगी का एक भी साधन नहीं,
उम्र तपती धूप है, सावन नहीं,
जन्म-दिन की क्या खुशी होगी उन्हें,
ज़िन्दगी है मृत्यु से भारी जिन्हें,
भूख, बीमारी, गरीबी, गंदगी,
कौड़ियों के मोल बिकती ज़िन्दगी,
आदमी का मिट गया सम्मान है
मनुजता का अब न गरिमा-गान है
वह नहीं इंसान की है सभ्यता,
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता
मूलधन हिंसा, गुलामी सूद है
आदमी बन्दूक की बारूद है
जब जगत् को चाहिये फुलवारियाँ
हो रहीं तब युद्ध की तैयारियाँ
फिर धरा सीता सताई जा रही
फिर असुर-संस्कृति जमाई जा रही
मिट रही रंगीन जीवन की छटा
छा रही हिंसक मशीनी घन घटा
आज जीवन को चुनौती मौत की

नीति क़ैदी है कुटिल कलधौत की।
है ग़नीमत हम न सड़कों पर गिरे
भूख रोगों से नहीं अब तक मरे
है यही क्या कम कि औसत उम्र से
ज़िन्दगी के दस बरस ज़्यादा हुए!
विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य-शिव का तब हमें विश्वास है
और है विश्वास जन-कल्याण का
रंग, रस का, त्याग का बलिदान का
फिर कटीली दृष्टि रंजित प्यार दो
आदमी की शक्ति का आधार दो
प्यार तुमसे हो जगत् से प्यार हो
प्रेरणा यह रंगमय संसार हो।

नरेश मेहता

अनास्था और किसी वस्तु को भले ही जन्म दे सके किन्तु कला एवं साहित्य को नहीं। अस्वीकार, सभी श्रेष्ठ पूर्वस्वीकृतियों के अशुभ-अपंगत्व पर अट्टहास करता हुआ गिद्ध है। केवल रागात्मिका वृत्ति वाला ही साहित्य न भी माना जाये तो भी साहित्य की आत्मा अनुभूति है इस सत्य से किसी पक्ष को विरोध नहीं होना चाहिए। साहित्य, स्वीकारोक्ति है। अस्वीकार, एक दर्शन विशेष या राजनीति विशेष तो संभव है, किन्तु साहित्य नहीं। जिस प्रकार अलिखे कोई साहित्यकार नहीं हो सकता उसी प्रकार अनास्था, किसी संवेदनशील चेतना की आधार-स्थिति नहीं हो सकती। लेखन, एक स्वीकार कर्म है। यह तो बाद का प्रश्न है कि वह क्या हो तथा कैसा हो। आस्था, हमारी चेतना को स्थिति देती है। वह स्थिति हमें एक भूभाग पर तथा मनस् क्षेत्र पर गतिसम्पर्क देती है। यह गतिसम्पर्क या गतिशील प्रक्रिया हमें रूप, रस गंधवाले भावजगत के सत्य से परिचयाती है। हमें तब बोध होता है कि नहीं हमारे गतिचक्र से संलग्न अन्य गतिचक्र भी हैं। यही सापेक्ष्यगति का बोध, हमारी ऐकान्तिका आस्था को ऋतु के मूल्यों से मण्डित कर ब्रह्मा बना देता है। तभी न अनास्था के अस्वीकार को किसी भी युग के साहित्य में मान्यता नहीं मिल सकी। अनास्था, आत्म-हत्या है। आत्महत्या, राजनीति की स्थिति तो हो भी सकती है, किन्तु साहित्य की वह नियति नहीं। अस्तु—

'आज अनास्था का युग है'—

''नव सामूहिकता के यान्त्रिक मूल्यों के कारण व्यक्तिमूर्ति के भाल पर चिन्ता-त्रिपुण्ड दिख रहा है।''—

आदि, अनेक कथन हमारे बीच शोभा रूप में प्रचलित हैं। हमने विकास का तर्क देकर अपने को विभिन्न अतीत के भयपूजकों से पृथक् कर वैज्ञानिक श्रेष्ठ सिद्ध कर लिया। सूत्र में हमारी यह विकास श्रेष्ठता बैलगाड़ी के पहियों से निकलकर विमान के पंखों पर टिकी हुई है। काष्ठयुग के मानव के स्थान पर हम एल्युमीनियमयुग के व्यक्ति हैं। लेकिन यह तो आकार का भेद हुआ? कौन दावे के साथ कह सकता है कि बैलगाड़ीवाले यात्री में तथा विमानवाले यात्री में मूलभूत संवेदनाओं एवं संस्पर्शों का भी अन्तर आ चुका है। आकार, परिधान की आवश्यकता ही ग्रहण कर सकते हैं। ये आकार, आत्मा की रागात्मिका नहीं प्राप्त कर सकते। सत्य तो यह है कि कालक्रम में जैसे जैसे हमने अपने दायित्व को भौतिकताओं एवं मशीनों में बाँटना आरम्भ किया तथा इस सीमा पर पहुँचे कि हमारी स्थिति कर्मनिरपेक्ष की हो गयी, तभी हम इन समस्त

सत्ताओं एवं साधनों के रहते भी तर्कमूर्ख हो गये। आज हममें सामूहिक एकता इतनी जड़वत् मिलेगी जैसे उत्पादित वस्तुएँ, लेकिन विविधता भी इतनी ही असूत्रित मिलेगी जैसे किसी राजनीतिज्ञ का भाषण। इस सारी स्थिति में साहित्य की दशा त्रिशंकु की सी रही है। एक राजनीतिक संकट से बचना पूरा होता नहीं है कि इतिहास सिद्ध कर देता है कि यह सिद्धान्त भी मिथ्या हुआ। यहाँ से वहाँ तक परिवर्तन होने लगते हैं। नये के स्वागत हेतु नये नये तर्क एवं उपयोगिताएँ सामने आती हैं। राजनीति की इस गिरगिटवृत्ति के साथ साहित्य का गजरथ सदा मार खाता है। साहित्य की इस गजता की ओर राजनीति अँगुली उठाती है, संज्ञाएँ देती है। बेचारा लेखक मान भी लेता है कि सच ही वह नयी विकासशील मानवता के जुलूस से कहीं दूर पीछे छूट गया है। यदि कोई स्वत्ववान इस तथाकथित विकास पर शंका करता है तो वह बनैले पशु की भाँति हुंकार उठती है कि—जैसे ही वस्त्रस्तर उच्च होगा वैसे ही नैतिकस्तर एवं सौन्दर्यस्तर भी उच्च हो जाएँगे। राजनीति ने हमें क्रीतदासत्व दिया है। इस सब के बीच जिस दूसरी बात ने हमें पंगु बनाया है वह है हमारी विलायती क्षयिष्णु वैयक्तिकता। हम जीनियस के रोग से पीड़ित रहने लगे। हमने वैयक्तिक संकट के नाम पर जिस बीमार व्यक्तित्व को साहित्य में व्यक्त होने दिया वह था, अनुत्तरदायित्वपूर्ण आत्मरतिभाव। इस काल में या तो राजनीति के क्रीतदासों ने प्रणयन किया या फिर इन बीमार आधुनिकों ने। राजनीति के पास देने के नाम पर दासता थी और इस विलायती वैयक्तिकता के पास देने के नाम 'द्वीपभाव' था। किन्तु यह राजनीति का तथा वैयक्तिकता का दर्प है, दंभ है, और दंभ, कंस होता है। यह ठीक है कि सारी स्थितियाँ प्रतिग्रंथित हैं, सब एक समग्र नियम में स्थितिबद्ध हैं फिर भी सबके अपने भी नियम हैं, सत्ता है, स्वत्व है। विगत वर्षों में सब धान बाईस पसेरी ही आँका गया। फलस्वरूप हमारे व्यक्तित्व में तथा कृतित्व दोनों में ही अविश्वास, अनास्था, अस्वीकार, उच्छृंखलता ही दिखायी दिये। साहित्य, विश्वास है। इसे धारण करने के लिए धृतिमान स्वत्व की आवश्यकता रहती है। हममें वह स्वत्व नहीं है। यदि राजनीति ने आज साहित्य को क्रीतदास कर रखा है तो उसका कारण भी हमारा बौनापन ही है। श्रेष्ठ राजनीति के लिए यह शोभा की बात नहीं है कि वह दासों पर शासन करे। उसकी श्रेष्ठता, सामाजिक श्रेष्ठता के साथ प्रतिश्रुत है। मार्क्स या गांधी कोई भी दासों के द्वारा मानव स्वर्ग की अवतारणा नहीं कर सकते। साहित्य का दास हो जाना महान सामाजिक संकट की पूर्व सूचना है। ऐसी अवस्था में संबंधों का स्पष्टीकरण होना अनिवार्य है। यह बोध हो जाना चाहिए कि जहाँ राजनीति की दर्पसीमा समाप्तती है वहाँ से ही साहित्य की विनम्रसीमा आरम्भती है। इसी अर्थ में ये क्रमशः आस्था एवं अनास्था की संतानें हैं। बिना विगत नष्ट किये नयी राजनीति का राज्यारोहण नहीं हो सकता, किन्तु साहित्य में पूर्वज पूजनीय ही नहीं वरन श्रेष्ठ मित्र भी होते हैं। वर्जना, राजनीति का धर्म है, किन्तु समभाव, साहित्य की संस्कृति है। इस अर्थ में राजनीति औरंगजेब है एवं साहित्य भवभूति है। वह वैयक्तिकता जो अन्य को

हेय कहती हो, रोग है। ऐसी वैयक्तिकता श्रेष्ठत्व की जननी नहीं होती। ये दोनों ही सीमान्त हैं एतदर्थ त्याज्य हैं। क्योंकि वैयक्तिकता के अनेक गुण जैसे आत्मबोध, समर्पण आदि वस्तुत: गुण हैं, शक्ति हैं यदि ये व्यक्तित्व में अनुस्यूत होकर अभिव्यक्त हुए हैं तो। लेकिन प्राय: ऐसा होता नहीं है। छोटों में यह भाव दम्भ कहलाता है और बड़ों में अहं। जबकि इस भाव का श्रेष्ठस्वरूप होता है प्रज्ञा। प्रज्ञा, तप चाहती है और तप, त्याग का अनुज है। अतएव यही कहना होगा कि साहित्य एवं राजनीति में जन्मजात बैर तो नहीं है फिर भी केलपत्र एवं बैरकंटक का संबंध अवश्य है। दम्भी की वैयक्तिकता, श्वान-शकट वाली जातक कथा की स्थिति है। अस्तु—

मानव विकास की शृंखला में विज्ञान नवीनतम कड़ी है। जिस क्षण से राजनीति को बोध हुआ कि उसकी शक्ति की वृद्धि में तथा स्वार्थ-सिद्धि में विज्ञान सबसे अच्छा साधन हो सकता है उस क्षण से उसने साहित्य की अपेक्षा विज्ञान को प्रश्रय देना आरम्भा। विज्ञान के लिए आवश्यक भी था कि वह राजनीति पर निर्भर करे क्योंकि सारे साधनों पर राजनीति का अधिकार था। आज राजनीति विज्ञान की सहायता से मानुषसत्ता को यंत्रसत्ता के रूप में परिणत करने को आतुर है। मानुष तो कभी विद्रोह कर भी सकता है, किन्तु यन्त्र नहीं (विस्फोट आदि को छोड़कर)। विज्ञान के सोये हुए असुर को राजनीति की भयंकर स्वार्थपरकता ने, उद्दाम मदप्रियता ने जगा दिया है। विज्ञान द्वारा इस यंत्रप्रजा को पूर्णता देने का अथक प्रयास भी हो रहा है। इस उत्पादित प्रजा की श्रेष्ठता के महानगान साहित्य बिना सोचे हुए करने पर आतुर है। राजनीति, विज्ञान तथा साहित्य के सम्मिलित इन्द्रजाल को लाखों नरनारी निराश्रित से कोढ़ी बने देखने के लिए बाध्य हैं। यदि इस प्रायत्निक सामूहिक विनाश से साहित्य किंचित् भी तटस्थ रह सकता होता तो मानवता के लिए आशा की संभावना थी, किन्तु यह क्रीतदासत्व, युगधर्म तक स्वीकारा जा रहा है। शेष साहित्यिक, क्षयिष्णु विलायती वैयक्तिकता के आचारी बने वर्जनावृत्त खींच स्वार्थसिद्धि में रत हैं। फलत: आज का साहित्य अनास्था, अराजकता, उच्छृंखलता, पक्षधरों तथा बीमारों का साहित्य है। क्रीतदासों की जिस प्रकार आँखें नहीं होतीं वरन आज्ञा सुनने के लिए कान भर होते हैं, ठीक वही दशा हमारे साहित्य की है।

इससे अधिक संकट में हमारा नीवनतम साहित्य है। यहाँ मैं नयी कविता पर ही कहूँगा। नवीन वह कई अर्थों में निश्चित है, किन्तु नवीनता अपने में कोई साध्य नहीं। इधर अनेक नयी कविता के सामूहिक संकलन निकले हैं जिन्हें देख बोध हो जाना चाहिए कि प्रयोग एवं प्रचार में एक सीमा होती है। जीवन भर कोई प्रयोग तथा प्रचार की दुहाई नहीं दे सकता है। इस नयी कविता को साहित्य में आये आज 15 वर्ष होने आये। इतने दिनों के उपरान्त भी यदि हमारी कविताओं की यही दशा है तो निश्चय ही यह कोई श्रेष्ठ स्थिति हो सो नहीं। वस्तुत: हम अपनी कविताओं के खोखलेपन को जानते हैं। यदि न जानते होते तो संभावना हो सकती थी कि कभी हम सही मार्ग पर, आ सकेंगे। लेकिन दु:ख तो यह है कि हम खोखलेपन को जानते हैं तथा उसे छुपाने

की कला में निष्णात भी है। जिस युग में साहित्य नहीं लिखा जाता उस युग में उसकी चर्चा सबसे अधिक होती है। यही दशा हमारे युग में कविता की है। इधर के संकलनों को देखकर स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कविता में आज अज्ञानता, उच्छृंखलता आदि बातें मौलिकता मानी जा रही हैं। परम्परा से हीन होने को आधुनिकता की संज्ञा दी जा रही है। हम नये कवियों की सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि काव्य की रचना से भी अधिक आवश्यक यह है कि हमारा कवि का व्यक्तित्व ही नहीं है। आर्थिक संकट आदि बातों की आड़ जिस गरिमाहीन स्वत्वहीन ओछे व्यक्तित्व को हमने अपने में पैदा होने दिया है और कुछ भले ही कर सके साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता है। साहित्य, व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं वरन् व्यक्ति द्वारा बृहत् की अभिव्यक्ति है। यह बृहत् भावना, व्यक्ति सत्य को बाधा देती हो सो भी नहीं, किन्तु जीवन के देखने के लिए वैज्ञानिकता ही एकमात्र दृष्टि है इसे भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। दूसरी ओर भावना की अपेक्षा जिस तर्कचातुर्य को प्रश्रय दिया गया, यह भी ठीक नहीं हुआ। आज की हमारी कविता तथा हमारे व्यक्तित्वों के बौनेपन को गम्भीर संकट के रूप में अनुभव करना होगा नहीं तो नयी कविता अपनी सारी चमक दमक से भी कोई महत्वपूर्ण कृतित्व एवं कृतिकार नहीं दे पायेगी। अस्तु—

इस सारी व्याख्या का, संलग्न अपनी कविताओं से मैं केवल यही संबंध देख पाता हूँ कि जिस आस्था की, अनुभूति की ऊपर चर्चा की गयी उनसे पाठकों को स्पष्ट हो जाएगा कि व्याख्या आदर्श के रूप में लिखी गयी है तथा कविताएँ कवि की वास्तविकता है। दोनों में भेद ही नहीं वरन एक महान् खाई तक दिख सकती है और यह खाई न रहे इसकी चेष्टा व्याख्या में की गयी है। अपनी व्याख्या के द्वारा मैं स्वयं को प्रशासित करना चाहता हूँ। यह एक भावनात्मक चेष्टा है।

निवेदनम्

समर्पण को व्यक्तिवेदी दो—
बिना जिसके
गर्व है यह माथ,
स्कन्ध का आधार दो!
व्यक्तिवेदी दो समर्पण को!!

पथलिपे वन बुझ रहे वे,
शुभ संकल्प से सब गाछ
दुख दुहरा रहे वे,
वेदना के स्मरण से कुछ शेष आँधारे शिखर
आकाश के अध्याय बाँचूँगा

सुनो—
सूर्यास्त है—
झेल लो तुम क्षितिज बनकर,
साँझ संज्ञा दो,
सँझा दो सूर्य को—
हलदडैना चाँदनी!
वचनजल में दुखबलाका तैर जाने दो!!
समर्पण को व्यक्तिवेदी दो!!

प्रति सूर्य का तिथिदीप
मेरी आयुतुलसी सम्मुखे
बुहर जाता—
कल जिसे मैंने जिया
खोल जाता अर्थ सा आठो दिशा;
पर व्यर्थ है यह गगन कलशी
धूप का अभिषेक—
खींचती है मृत्तिका सब स्वत्त्व,
इस संघर्ष पार्थिव को
बाहुओं की जलाधारी दो!!
समर्पण को व्यक्तिवेदी दो!!

हम मित्र हैं, प्रियम्वद् हैं!!
इस अपमानित मुखवाले दिन का
मैं मित्र हूँ, प्रियम्वद् हूँ!!
जिसके आलोक में
सौम्य चीड़ पंक्तियों ने
छालों औ' फूलों की भिक्षा ली—
छतनारे देवदार गाछों ने
पर्णहीन पतझर से
वासन्ती चीवर की दीक्षा ली—
सीतापति खेत हुए,

टेसू में तिथियाँ सब सुलग उठीं—
देवों के यश सा यह उजला दिन
उत्सव है—
जात्रा है—

किन्तु, तुम उदास बैठे रहे
अपने विकल्प सने,
कीर्तिप्रिया इन बाहुओं को
ऋतु के पहले ही झुका लिया—
कर्म की हत्या की,
तुमने तिरस्कृत किया
दिन को—
उसकी महत्ता को—
ओ हतभागो! आओ स्वीकारो
बाँसों के फूलों के विनयी हो;
खोजो,
उस दिन को
जो सम्यक् है—
पश्चिम तट खोजो,
मत जाने दो अपमानित, उपेक्षित, तिरस्कृत
देवों के यश से उजले इस दिन को—
डाको, विनयो—
लौटो,
ओ सम्यक् दिन! लौटो
हमें आलोको,
हमारी रचनाओं को दूबों का शील दो—
हमारी मृत चेतनाओं को धेनु करो,
धूपाभिषिक्त करो—

आओ हम सरपत का शील वर,
ओ झील की सी शान्तिमुख वाले सम्यक् दिन!
हम मित्र हैं, प्रियम्वद् हैं!!

समय का भिक्षु—

द्वार पर भिक्षुक पुकारा एक—
''आज है एकादशी माँ! कुछ मिले—'' की टेक।
किस अनामा भूमि का यह भिक्षुजन?
कौन कुल?
किस ग्राम का?
किस पीर ने—
व्यक्ति, वैतालिक बनाया?
नित सकारे
सभी द्वारे
तिथि उचारे
नित नया दिन खोल जाता क्षिति किनारे,
''ओ पाण्डुखौरी! सर्वसमवायी!
पात्र फैलाओ—
तुम्हारे तिथिपात्र का ही देय था
यह आयुफल।''
''ओ समय के भिक्षु!
कल फिर डाकना तिथि द्वादशी!!''

पुनः भिक्षु—

द्वारे एक भिक्षुक बोले माँ!
दान देबो, आज के प्रदोष आशे—
''सत्कारो बेटी! अन्न दे भिक्षुक के—''
''न माँ! अन्न प्रियी नेंही वो—''
''मुद्रा संग श्रीफल दे तुष्ट करो—''
''ना माँ! वह वीतरागि स्वीकारे यह भी ना—''
''तो वह इस ड्योढ़ी से क्या चाहे बोलो—''
''क्या जाने? ऐसे ही बोला वह
अपने को वर दे, श्रेष्ठ! तू अपने को वर दे—''
''पामर को देखूँ तो....भिक्षु बड़ा....''

द्वार का भिक्षुक था चला गया—
कंचन से कुन्तल उस मोड़ झलमला गये—
''बेटी वह यौवन था वरने को आया—

यौवन भी भिक्षुक है—
तिथि सा जो आता है, वरने को—
अपने को दोगे?
देना है कठिन!!''

प्रभाकर माचवे

कवि निज रचना की व्याख्या क्यों करे? जो लोग 'एडवर्टिजमेंट फ़ार माइसेल्फ' के ढंग पर 'आत्मनेपद' लिखते हों, लिखें। मेरे भीतर अगर कोई कवि है, तो वह इस प्रकार के अहं के विस्फोट या स्वत: प्रमाण को प्रमाणित करने या हाथ-कंगन को आरसी दिखाने के पक्ष में नहीं। कविता अपने आप में अपने को उघार कर सबके सामने रखना है। कविता यदि ईमानदारी से लिखी गयी है, उसका असर जरूर कहीं न कहीं होगा, चाहे वह कितनी ही कम मात्रा में हो। सो अपनी कविता की मुझे, क़तई कैफ़ियत नहीं देनी है। उसके दोष मुझे मालूम हैं; गुण मालूम नहीं। सो क्या कहकर बखानूँ कि 'गुन-गाहक हिरानो है?'

काव्येतर तीन बातें जो मेरे बचपन से मेरे साथ जुड़ी हैं, यहाँ बतलाना जरूरी है, चूँकि उनका मेरी कविता से अभिन्न सम्बन्ध रहा है :

एक, मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है। और इस बात की याद मुझे बार-बार दिलायी जाती रही है। अब भी दिलायी जाती है। मैंने कविता लिखना, बल्कि लिखना ही मराठी से शुरू किया। संस्कृत छन्द-शास्त्र बहुत बचपन में सीखा। मराठी कविता अभी भी चाव से पढ़ता हूँ। मराठी में कविता लिखना बहुत दिनों से छोड़ दिया—शायद उसी तरह हिन्दी में भी लिखना छूट जाये। चूँकि जो कुछ लिखा गया, उससे सन्तोष नहीं है।

दो, मैंने माँ के साथ बचपन में बहुत तीरथ किये। और चित्रकला की शिक्षा पायी। वस्तुत: इन दो चीजों में कोई असमानता नहीं होनी चाहिए। पर बचपन से संस्कारों ने जिस विरक्ति को जगाया, उसका प्रतिकार चक्षुर्वैसत्यं की आसक्ति ने किया। अरूप और रूप का द्वन्द्व चिरन्तन रूप से मन में बस गया। जिसे बाद में उघारा मेरे दर्शन के और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने।

सामाजिक-राजनीतिक विचारों में मैं किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता (पुरानी या नयी) का विरोधी रहा हूँ। इस विद्रोह में से ही मुझे क्रान्ति की वैज्ञानिक मानवतावादी मर्यादाएँ सीखने को मिलीं। मैं नहीं जानता कि श्रद्धा और विवेक का, 'रीजन' और 'एण्टी-रीजन' का जो महत्तर द्वन्द्व चलता रहता है—उसने मुझे कवि बनने की ओर प्रेरित शायद किया हो। परिणाम : यह अनमिलपन। एक ओर प्राचीन प्राच्य संस्कृति की ओर दृढ़ मूलानुवर्ती खींच, दूसरी ओर आधुनिकतम प्रायोगिकता की ओर उतना ही सबल आकर्षण। रामकृष्ण-अरविन्द-गाँधी पढ़े और पढ़ाये; तो इक़बाल-मानवेन्द्रनाथ राय को भी पढ़ा। साहित्य के सन्दर्भ में जहाँ आदर्शवादी लेखक प्रेमचन्द और जैनेन्द्रकुमार गद्य में, वहाँ काव्य में माखनलालजी, 'नवीन', 'निराला'

आदि ने प्रभावित किया। हो सकता है, ज्यादा और सब तरह का पढ़ने की यह प्रतिक्रिया हो कि अब पढ़ने-लिखने से अत्यधिक ऊब आने लगी है। पर कविता अभी भी लिख लेता हूँ। सो तीसरी बात यह है कि मैं किसी भी लेबल-विशेष से परिभाषित होना पसन्द नहीं करता। 'नानकन्फ़र्मिस्ट' रहा हूँ। रहूँगा। मेरी कविता के व्यंग्य भाव का आधार यही है।

चौथे, कुछ वर्ष पूर्व बाहर गया था। उसके भी बहुत धुँधले-स्पष्ट मनोप्रभाव हैं।

क्या इतना कहना काफी नहीं है? अपनी कविता के साथ फ़तवे, वक्तव्य, घोषणाएँ, आत्म-श्लाघा, आत्म-निन्दा आदि बैण्ड बाजा लेकर उसकी बारात (या जनाजा) निकालना नहीं चाहता। अभी सोचता हूँ कि सीख रहा हूँ, रियाज बाक़ी है। उस्तादी का दम्भ तो बहुत दूर है; वह मंज़िले-मक़सूद भी नहीं।

आकाशवाणी पर छ: वर्ष झकमारी के बाद जानने लग गया हूँ कि हिन्दी कविता की भाषा जनसाधारण के निकटतम लानी पड़ेगी। वर्ना यह भी एक प्रकार की बाणभट्टीय भाषा बन जायेगी। गोया माना कि हिन्दुस्तानी की अपनी हदें हैं। फिर भी कोशों के सहारे शायरी लिखने की अवस्था तक नहीं पहुँचा हूँ।

तीन नगर : तीन मनोदशाएँ

न्यूयार्क

सीमेंट-इस्पात-घटाटोप-कानन
जहाँ लुप्त मानव-संस्पर्श—मात्र प्यार
सेक्स-सप्राण कोणार्क
सेंट्रल पार्क
दुनिया की सबसे भव्य इमारत से, विश्व-छत से हल्के-सस्ते रिमार्क :
यही फ़िक्र—सतायेंगे इन्कम टैक्स वाले शार्क,
व्यापार का भविष्य डार्क?
HARK

आस्वेगो

एक छोटी सी नदी, जंगल-किनारे, एक छोटा गाँव
रंग-बिरंगे बादलों की छाँव,
एक छोटी नाव
और गाना शांत बीथोवेन का, कोवान कोई 'ज़ेन' का,
यह स्थली थी जहाँ कोई मेनका आयी कभी भी थी ख़्वाब में जिसके दुखे थे पाँव
एक ठिइका हिरन-शावक ज्यों चकित-अनुभाव
भूल जाता हूँ यहाँ सहसा सभी अपनाव या कि दुराव
अर्थाभाव

रेड्वुड्स

तीन हज़ार बरस के बूढ़े लाल महावृक्षेश्वर तुमको है प्रणाम
इन पेड़ों के तने कि जिनमें की सुरंगों से मोटरें जातीं सबेरे-शाम
एक पेड़ ऐसा देखा, गिरी बिजली, जला वह पूरा
फिर भी उखड़ा नहीं, खोखला खड़ा है,
जिसमें से चाँद वह अधूरा, घूरा
ऐसे ही होते हैं जीवन, समूह जिनकी ऐंठन बाक़ी,
जल जाता है गुण, पर फिर भी उड़े हुए हैं अपनी ही हठ पर एकाकी—
झाँकी उन नक्शे-पा की!
ऐसे कानन—नहीं जला करते हैं आनन-फानन

कोपेनहागेन से कीर्किगार्द की समाधि पर—

सर्वास्ति
शून्य सब....नहीं
सिहरन निजता के पाप के सामने
(उदास, उपेक्षित तुरबत, कुछ सैलानी)
अच्छाई सुन्दरता का नकार
सच्चाई अच्छाई का नकार
और तीनों आयाम मिलकर—स्वीकार?
मैं और तुम, अथवा मैं या तुम
सोरेन्—मौत? कन्फ़ेशन....
'किमकर्मकिमकर्मेति'....'टु बी ऑर नाट टु बी?'
पग-पग पर जीवन में मौत से भी बुरी मौत
डग-डग पर मौत में जीवन से भी बड़ा जीवन
और हम कवि से आशा माँगते हैं
जैसे डॉक्टर से टॉनिक? पर भीतर तो
'सब्बम, क्षणिकम्' का 'सब्बा संखारा अनित्ता' का
कीड़ा है।
कुतर गया वह डंठल, कुतर गया जड़ें,
पड़ा कलियों पर पाला
और चाहते हैं हम दर्शन धीरज दिलाने वाला!
वंचना। व्यंजना। पर्यायवाची हैं।

रवीन्द्रनाथ के चित्र

'के तुमि शुधु छबि?'—नहीं-नहीं। गहरे ये मोती
ये चित्र नहीं अवचेतन की चीत्कार अनावृत
लाल-हरे काले-नीले-बैंजनी, कपोती
किमाकार ये आदिम प्राणी, रेखा-रूप असंवृत
लिखते-लिखते पंक्ति काट दी, सर्प बन गया
कहीं बेल-बूटे, खग या घन, अद्भुत मंडन
पैंसठ बरस वयस् में सूझा पागलपन नया
बिंब-विधान अपूर्व, मान्यताओं का खंडन
तथाकथित इस महासभ्यता पर विनाश-छाया संहारक
चिकनी-चुपड़ी बात दुचित्ती, दंभ-स्फोट, नकार विदारक
सब कुछ मधुर-सौम्य-कोमल के प्रति विद्रोही
पुंजीभूत शक्ति, निजता की 'परता' आरोही
शिंजन-अनुगुंजन कुछ नहीं, रंजिता रूढ़ि-भंजना
केवल मौलिक अभिव्यंजना, अभिव्यंजना, अभिव्यंजना

'लिखत सुधाकर....'

मन में कुछ ज़हरीला तीता ऐसा अटका
जो लिखता हूँ हो जाता अनचाहे उलटा
यह खिड़की, यह धूप, दवा की शीशी, यह मैले दस्ताने
बजती रहती वही अनसुनी बंद द्वार की कर्कश घंटी
किसी पुरानी शिल्प-वास्तु का यह खंडित-सा टुकड़ा
यह झीना सा तार ज़री का सदियों पहले रेशम पट का
निरानंद दृग, कुंचित भौंहें, मुद्रा विश्री
पेशानी पर सलवट, मानो सब बेमाने
कितना निर्मम हिंसा का सामूहिक झटका
इतने कड़ुए मन भर को क्या कर लेगी तोला भर मिसरी
तो क्या मेगाटन भीषण बम अग-जग में कारिख पोतेंगे
और नहीं कुछ मूल्य मुस्कराती 'जूही की एक कली' का?

रघुवीर सहाय

अपनी कविता की व्याख्या करना असम्भव है यानी इस तरह से कि आप उसे पढ़ना चाहें। अपने बारे में कुछ कहना असम्भव नहीं केवल कठिन है और खास करके अपनी कविता के उस चरण में जिसमें मैं अपने आप को इस समय पाता हूँ। हमेशा से ज़्यादा मुझे इस समय प्रयत्न और परिश्रम की आवश्यकता जान पड़ती है [आलोचक के लिए नोट : परिश्रम कविता लिखने में नहीं] एक ख़ास तरह का जीवन जीने में जो कविता के लिए ज़रूरी है और जिसे इस समय हमेशा से ज़्यादा जरूरी मानता हूँ।

इसलिए व्याख्या शीर्षक से अधिक से अधिक यही कर सकता हूँ कि अपने से उस विशेष जीवन का आग्रह करूँ और इन कुछ कविताओं की पूर्वपाचित समीक्षा से आपको मुक्त रक्खूँ जिन्हें शायद आप यह गद्य पढ़ने के पहले सरसरी नज़र से देख गये हैं। आप चाहें तो फिर कविताओं पर लौट जा सकते हैं और मुझे इस मुखर चिन्तन के लिए मुक्त कर दे सकते हैं।

जैसे-जैसे नयी कविता के प्रतिमान स्पष्ट होते जा रहे हैं कुछ और बातें भी सामने आती जा रही हैं जिनका सम्बन्ध कविमानस की रचनात्मक प्रक्रिया से है। संलिष्ट रूप में नये मानव की खोज ही नयी कविता का धर्म है पर अलग-अलग कवियों में अनभूति और उसकी रचनात्मकता की गहराई जितनी अलग-अलग आज दिखायी दे रही है उतनी शायद किसी और आवर्त्त में नहीं दिखायी दी। अपने देश की विशेष सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में लगभग हर ऐसे क्षेत्र में, जहाँ उपलब्धियाँ व्यक्ति के प्रयत्न से होती थीं, यही हो रहा है : व्यक्तिगत स्तर का नीचे गिरना या दुस्साध्य होते जाना और एक मँझोले सामूहिक स्तर का प्रकट होना। मानवीय अनुभूति के क्षेत्र में भी यही हो रहा है: जनजीवन में मानवीय मूल्यों का भी एक घटिया सामूहिक प्रतिमान उभरता दिखायी दे रहा है और यह कलाकार को एक बहुत तीखी चुनौती है।

कुछ वर्ष पहले, जब नवोदित प्रतिभा के लिए एक तत्कथित सामाजिक चेतना का अनुशासन, एक आकर्षण बन कर आया था तब भी लगभग ऐसी ही चीज़ हुई थी; तब उसका प्रभाव तत्कथित कलाकारों तक ही सीमित था और घटियापन से भी ज़्यादा उसमें निषेध का तत्व था। इसलिए उसका ख़तरा भी इतना व्यापक न था जितना आज है—जब कि मानवीय अनुभूति के लिए स्वीकार तो है पर उसमें उत्कृष्टता का आग्रह न होकर एक रूपता का स्तरीकरण का आग्रह है। मैं दोहराना चाहता हूँ कि यह सामाजिक धारणा प्रगतिशील आन्दोलन की सामाजिक धारणा से ज़्यादा खतरनाक है; इसमें बाज़ारूपन, कामचलाऊपन और सस्तेपन के बीज ज़्यादा अच्छी तरह पनप सकते

हैं और व्यक्ति की गहरी अनुभूतियों के रास्ते में ज़्यादा अच्छी तरह बाधाएँ दे सकते हैं।

प्रगतिशील आन्दोलन ने कवि की रचना-शक्ति के साथ एक बहुत बड़ा छल किया था। जो वास्तव में मानव जीवन का दर्शन हो सकता था उसे उसने एक मानवेतर ध्येय बनाकर छोड़ दिया; छायावाद जिस वायविक विराट् सौन्दर्य की खोज में थक चुका था उसके मुकाबले इस मूर्त, ज्ञेय लक्ष्य का सहारा ज़्यादा आसानी से लिया गया, पर दोनों में मानव केवल परोक्ष में था विश्वजनीन ऐतिहासिक परिस्थितियों ने अब कलाकार और जन को आमने सामने खड़ा कर दिया है। उनके बीच से सोद्देश्यता की सुगम तात्कालिक सुविधाएँ हट गयी हैं। कहा जा सकता है कि कलाकार आज मानवीय यथार्थ का नंगे बदन संस्पर्श करता है—और इसने उस पर एक खास तरह की ज़िम्मेदारी डाल दी है। यह ज़िम्मेदारी खुद उसकी ज़िम्मेदारी है, उसका हिसाब लेने वाला पहले की तरह कोई दूसरा नहीं है। संक्षेप में यह ज़िम्मेदारी एक व्यापक मानवीय शिव को बदलते हुए सामाजिक तथ्य के साथ-साथ निरन्तर आत्मसात करते रहने की है। यह एकान्त रूप से एक विशिष्ट व्यक्ति की ज़िम्मेदारी है, क्योंकि वह मानवीय शिव कोई सामूहिक प्रतिमान नहीं है, वह शाश्वत है और सार्वजनीन है। इसलिए कवि को स्वयं एक विशिष्ट मानव बनना होगा; उसके बिना एक सामूहिक मानवीयता का ख़तरा उसके लिए और भी बड़ा साबित हो सकता है और आसानी से उसे—एक तरह से सन्तोषप्रद ढंग से भी—सामान्य नागरिक के स्तर पर उतार दे सकता है। कवि के, जीवन में सामान्य नागरिक बनने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है, केवल उसे सामान्य नागरिक से कहीं ज़्यादा योग देना और भाग लेना है। जीवन की समग्रता में, व्यापकता में गहराई में इच्छा करके, प्रयत्न करके, विविध उपकरणों के साथ एकात्म होना उसका विशेष दायित्व है, सामान्य नागरिक जिसके बिना भी सामान्य और नागरिक दोनों रह सकता है।

यही उस चुनौती का जवाब है और इसी योगदान के प्रति मेरा आग्रह है। यह पूरे से पूरा हिस्सा लेना—ज़िन्दगी के तमाम मैदानों में—कला में हिस्सा लेने की पहली शर्त है और यदि कलाकार कहीं पर सामान्य प्राणी है तो इस शर्त के पालन में जो बाधाएँ आती हैं उनको झेलने में है। कला के नाम पर कोई रियायत माँगे बिना, वह औरों की तरह इनको झेले, व्यक्तित्व के बँट जाने से संघर्ष करे, इच्छानुसार जब और जैसे कर्म करने की अपनी स्वाधीनता की रक्षा में लड़े और प्रसंगवश घायल होता हो तो वह भी हो।

इस स्वत्वरक्षा के बिना तनरक्षा की चिन्ता करते ही कवि अपना वैशिष्ट्य खो बैठता है। उसका कृतित्व हद से हद विचारात्मक होकर रह जाता है; बौद्धिकता एक दृष्टि न बन कर एक प्रवृत्ति बन जाती है। पिछले 5, 6 वर्षों के रचनात्मक लेखन का अधिकांश ऐसी ही प्रवृत्ति से दिये गये वक्तव्यों से भरा है—किसी अंश तक तो इस प्रकार का लेखन अलग-अलग व्यक्तियों की कला के विकास का एक चरण हो सकता

है; पर पूरी स्थिति का सर्वेक्षण करने से इस दिशा में कुछ निश्चित प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। ये, जीवित रहने को ही कलाकार की ज़िम्मेदारी मान लेने से प्रकट हुई हैं : ऊब, खीज, घुटन, लाचारी या थकान को स्वीकार कर लेना ऐसी ही निश्चित प्रवृत्ति का उदाहरण है। अपनी बात कहूँ तो इसे मैं कलाकार की पराजय मानता हूँ। ये कुत्साएँ युगतथ्य हैं, युगसत्य नहीं हैं। मैं नहीं समझता कि बौद्धिकता इनके स्वीकार की अनुमति देती है; इनके साक्षात्कार की ही देती है, इनसे पैदा एक बेचैनी की देती है, पर वहाँ कवि को रोक नहीं देती, उसके भीतर एक दर्द तक ले जाती है, पर वहाँ भी हमेशा के लिए ठहरने नहीं देती उसके भीतर एक सन्देश देती है। वही सन्देश, अभिव्यक्ति को आवश्यक बना सकता है। वह मानवीय कल्याण का सन्देश कितने ही छोटे-छोटे रूपों में व्यक्त होता है, नारे या उपदेश की तरह अन्तिम वह नहीं होता; वह किसी एकान्त सामाजिक या सामूहिक उद्देश्य में नहीं योग देता, सम्पूर्णतर जीवन में देता है और प्रकारान्तर से जीवन-लालसा को बढ़ाता है, बुझाता नहीं। इससे ज़्यादा कला कुछ कर भी नहीं सकती और यह भी वह एक समग्ररूप में करती है, उसकी अलग-अलग एक पचास या सौ क़िस्तों में युग के अमंगल का अन्तिम उपाय खोजना व्यर्थ है।

ज़िन्दगी में ख़ुलकर हिस्सा लेना और उस विशिष्ट व्यक्ति की हैसियत से लेना जो इच्छानुसार जब और जैसे कर्म करने का अपने व्यक्तित्व को बँटने न देने का अधिकारी है, यही एक विशेष जीवन का, परिश्रम है; यह परिश्रम इसीलिए है कि आज के जीवन में बिना हिस्सा लिए ज़िन्दा रहना कहीं ज़्यादा आसान है बनिस्बत हिस्सा लेते हुए जीने के और ऊपर से ज़िन्दा रहने के।

कैसे किया जा सकता है यह? यह एक बिलकुल अलग सवाल है; जिसका कोई समानीकरण नहीं हो सकता; यदि व्याख्या का अर्थ उसके व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का वर्णन करना हो तो वह किया जा सकता है—यद्यपि उस समय नहीं जब कविताएँ आपके सामने हों। जो कुछ कह सकता हूँ वह यह कि वह प्रक्रिया कविव्यक्ति में एक सी होती हुई भी बार-बार नये स्तरों तक पहुँचती है और नयी रचनाएँ करती है। उसके फल अलग-अलग तरह के होते हैं पर पके बहरहाल होने ही चाहिए। एक बार व्यक्ति की हैसियत से जो, जीवन में योग दे चुका है कवि की हैसियत से दुबारा रचना के माध्यम से देता है; अपनी शक्ति भर विविध रूपों में योग देना ही उसकी सार्थकता है। और सार्थकता तभी है जब वह योग स्वभावत: साहित्यिक स्तर पर हो; केवल स्थापना, वक्तव्य, घोषणा, उपदेश या नारे का मौका जीवन में और जगह बहुत है और वहीं उसका उपयोग करना भी मना नहीं है।

वह जो बार-बार मरता है

मेरा एक जीवन है
उसमें मेरे प्रिय हैं मेरे हितैषी हैं मेरे गुरुजन हैं
उसमें मेरा कोई अन्यतम भी है

पर मेरा एक जीवन अपना है
जिसमें मैं अकेला हूँ
जिस नगर के गलियारों फुटपाथों मैदानों में घूमा हूँ
हँसा खेला हूँ
उसके अनेक हैं नागर, सेठ, म्युनिसिपल कमिश्नर, नेता
और सैलानी, शतरंजबाज और आवारे।
पर मैं इस हाहाहूती नगरी में अकेला हूँ।
देह पर जो लता सी लिपटी
आँखों में जिसने कामना से निहारा
दुःख में जो साथ आये
अपने वक्त पर जिन्होंने पुकारा
जिनके विश्वास पर वचन दिये, पालन किया
जिनका अन्तरंग होकर उनके किसी क्षण में मैं भी जिया
वे सब सुहृद हैं, सर्वत्र हैं सर्वदा हैं।
पर मैं अकेला हूँ।
सारे संसार में फैल जायेगा एक दिन मेरा संसार
सभी मुझे करेंगे, दो चार को छोड़, कभी न कभी प्यार
मेरे सृजन, कर्म, कर्त्तव्य, मेरे आश्वासन, मेरी स्थापनाएँ
और मेरे उपार्जन, दान, व्यय, मेरे उधार
एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे ये मेरे महत्व
डूब जायेगा तन्त्रीनाद कवित्त रस में राग में रंग में मेरा यह ममत्व
जिससे मैं जीवित हूँ
मुझ परितृप्त को तब आकर वरेगी मृत्यु—मैं प्रतिकृत हूँ
पर मैं फिर भी जियूँगा
इसी नगरी में रहूँगा
रूखी रोटी खाऊँगा और ठण्डा पानी पिऊँगा
क्योंकि मेरा एक और जीवन है
और उसमें मैं अकेला हूँ।

(1957)
(प्रकाशित)

बसन्त

देख रहा हूँ
लम्बी खिड़की पर रक्खे पौधे
धूप की ओर बाहर जा रहे हैं झुके
हर साल की तरह गौरैया
अबकी भी कार्निस पर ला ला के धरने लगी है तिनके
हालाँकि यह वह गौरैया नहीं
यह वह मकान भी नहीं
ये वे गमले भी नहीं
यह वह खिड़की भी नहीं
कितनी सही हैं मेरी पहचान इस धूप की।
कितने सही हैं ये गुलाब
कुछ कसे हुए और कुछ झरने झरने को
और हलकी सी हवा में और भी--जोखिम से
निखर गया है उनका रूप
जो झरने को है।
और वे पौधे बाहर को झुके जा रहे हैं जैसे उधर से
धूप उन्हें खींचे लिये ले रही है और बरामदे में धूप होना
मालूम होता है जैसे ये पौधे बरामदे में
धूप सा कुछ ले आये हों।
और तिनका लेने फुर्र से उड़ जाती है चिड़िया
हवा का एक डोलना है : जिसमें, अचानक,
कसे हुए गुलाब की गमक है—और गर्मियाँ आ रही हैं—
हालाँकि अभी बहुत दिन हैं—
कितनी सही है मेरी पहचान इस धूप की।
और इस गौरैया के घोंसले की कई कहानियाँ हैं
पिछले साल की अलग और उसके पिछल साल की अलग।
एक सुगन्ध है।
बल्कि सुगन्ध नहीं एक धूप है
बल्कि धूप नहीं एक स्मृति है
बल्कि ऊष्मा है, बल्कि ऊष्मा नहीं,

सिर्फ़ एक पहचान है।
हलकी सी हवा है और एक बहुत बड़ा आसमान है
और वह नीला है और उसमें धुआँ नहीं है।
न किसी तरह का बादल है
और एक हलकी सी हवा है और रोशनी है
और यह धूप है जिसे मैंने पहचान लिया है
और इस धूप से भरा हुआ बाहर
एक बहुत बड़ा नीला आसमान है;
और इस बरामदे में धूप और हलकी सी हवा और एक बसन्त।

(1957)
(प्रकाशित)

पानी

कौंध। दूर घोर वन में मूसलाधार वृष्टि
दुपहर : घना ताल : ऊपर झुकी आम की डाल
बयार : खिड़की पर खड़े, आ गयी फुहार
रात : उजली रेती करी पार सहसा दिखी शान्त गहरी नदी
मन में पानी के अनेक संस्मरण हैं।

(1954)

पानी

पानी का स्वरूप ही शीतल है।
बाग में नल से फूटती उजली विपुल धार
कल कल करता हुआ दूर दूर तक जल
हरेरी में सीझता है
मिट्टी में रसता है
देखे से ताप हरता है मन का, दुख बिनसता है।

(1954)

इस बार नीम में

नीम में बौर आया।
इसकी एक सहज सी गन्ध होती है
मन को खोल देती हैं जब मति मन्द होती है।
प्राणों ने एक और सुख का परिचय पाया
आया नीम में बौर।

(1954)

घोषणा

यह
गमले में उगा नन्हीं नन्हीं पत्तियों का हरा सजग बिरुआ
मुझे शान्ति देता है।
तुम्हें क्या देती है तुम्हारी सेनापतियों, सैनिकों, युद्धबन्दियों की पाँति?
तुम जिस जीवन में जुते हो, अनुयायियो!
उसी में, मैं भी, अर्पित हूँ
अपने कविधर्म से, अपनी ही भाँति।

(1954)
(प्रकाशित)

गुलमोहर

दूसरे तीसरे जब इधर से निकलता हूँ
देखता हूँ—अरे इस वर्ष गुलमोहरे में अभी तक फूल नहीं आया।
इसी तरह आशा करते रहना कितना अच्छा है
विश्वास रहता है कि वह प्रज्वलित रूप
मैं भूल नहीं आया।

(1954)
(प्रकाशित)

तोड़ो तोड़ो तोड़ो

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये पत्थर, ये चट्टानें
ये झूठे बन्धन टूटे
तो धरती को हम जानें
सुनते हैं मिट्टी में रस है जिससे उगती दूब है;
अपने मन के मैदानों पर व्यापी कैसी ऊब है—
—आधे आधे गाने!

तोड़ो तोड़ो तोड़ो
ये ऊसर बंजर तोड़ो
ये चरती परती तोड़ो
सब खेत बना कर छोड़ो

मिट्टी में रस होगा ही जब वह पोसेगी बीज को
हम इसको क्या कर डालें? इस अपने मन की खीज को
—गोड़ो गोड़ो गोड़ो।

(1955)

ये अपनी कविताएँ

जो अब कहने को करते हैं
वह पहले ही सह आये थे
जो अब सच होता जाता है
वह पहले ही कह आये थे
फिर से वह दर्द जगाती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ।
तब तो बस खुश हो लेते थे
दिल का दुख दर्द जता कर के
कुछ कला-वला हो जाती थी
गाते थे भाव बता कर के
अब काम हमारे आती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ।
जिस सच को हमने खोजा था
उतने थोड़े से अनुभव में
कुछ और ज़िन्दगी जी आये
उस एक सचाई की रौ में
आगे भी राह दिखाती हैं
ये अपनी पिछली कविताएँ।

(1952)
(प्रकाशित)

शमशेर बहादुर सिंह

व्याख्या कितना कठिन काम होता है, यह मैं जानता हूँ और जितना जानता हूँ, उतना ही घबराता हूँ उससे। अतियथार्थवादी कला-कविता और आधे भूले-बिसरे सपनों की व्याख्या एक ही जैसी बात है। मगर हम सपनों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं। ....वह बनावटी चीज नहीं होते। ऐसे ही कुछ इस प्रकार की कला (सब नहीं) मैं सिद्धान्ततः ऐसी कला का सामान्यतया विरोधी हूँ। मगर हर Genuine चीज के लिए अगर उसमें कला का मर्म है, मेरे अन्दर कमज़ोरी है। मैंने अपने-आपको कितना रोका है, बराबर सन् 42-43 के बाद से....ऐसी कला की ओर जाने से—मैं नहीं जानता हूँ! और कितनी कठिनता से, अपनी Pen-and-ink और पेस्टल ड्रॉइंग्स में ही अपने को मुक्त छोड़ा....क्योंकि वहाँ मैं 'प्रोफ़ेशनल' (समाज के प्रति कुछ भी दायित्व वहन करने वाला) नहीं।—वह एक अमेच्योर हॉबी है; नितान्त अपनी प्रायवेट चीज़। रिद्म और रंगों की अनुभूति के लिए मश्क़। संवेदनाओं को जीवित रखने के लिए, मात्र। व्यायाम और आसन की तरह। अगर बहुत गलत है यह तुलना भी;—कारण, कि अमूर्त की गत्यात्मक-ज्यामित्यात्मक अनुभूतियों को व्यक्त करने के वर्ण और रेखा में अभ्यास प्रायः 'स्वस्थ' दशा नहीं लेते, या लेते रहे हैं—मेरे केस में। उनमें व्यक्ति की सीमाओं का संकुचन-सा लक्षित होता है मुझे—अपने केस में।

(....मैं बहक रहा हूँ, गैरज़रूरी सिम्त में?)

—एक और कविता जो 'सींग और नाख़ून' के साथ 'साथ की' है और Incidentally श्री श्रीराम वर्मा को बड़ी पसन्द भी आ गयी, साथ में दे रहा हूँ। स्पष्ट है कि जिन्हें 'नयी कविता' (सामान्य प्रचलित अर्थ में 'नयी') को सहानुभूतिपूर्वक अपनाना नहीं आया है,—ये उनके लिए नहीं हैं, नहीं हो सकतीं। बातों को कहने के इशारे स्पष्ट से लेकर बहुत ही, बहुत ही अस्पष्ट तक हो सकते हैं। मगर इशारों के पीछे किसी बहुत मार्मिक बात का होना आवश्यक है। ये इशारे गद्य में—और पोस्टर में भी हो सकते—और होते हैं। कविता में और अन्य कलाओं, ललित कलाओं में इनका मूल्य मार्मिक बात का मार्मिक काव्य और कला में **स्वयमेव** ढलकर आना पहली शर्त है उसकी सफल—वास्तविक रूप में सफल—अभिव्यक्ति के लिए। वर्ना वह बकौल ग़ालिब 'खेल लड़कों का हुआ, दीदए-बीना न हुआ।' बहरहाल।

लौट आ, ओ धार

लौट आ ओ धार

टूट मत ओ साँझ के पत्थर
हृदय पर
[मैं समय की एक लम्बी आह मौन लम्बी आह]
लौट आ ओ फूल की पंखड़ी
फिर
फूल में लग जा
चूमता है धूल का फूल
कोई हाय

वह जड़
शिला का खून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं।
सीढ़ियाँ थी बादलों की झूलतीं
टहनियों-सी।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना :
सुतल था
आत्मा के कल्पतरु का।

किरण रेखा तिलक
किरण रेखा
तिलक;
रश्मि-बादल
बाल—
सजे-घने
श्वास में है
एक स्वर्णिम जाल।
स्वप्न—
अलकापुरी

सींग और नाख़ून
सींग और नाख़ून।
लोहे के बख़्तर कंधों पर।
सीने में सूराख़ हड्डी का
आँखों में घास-काई की नमी।

एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उल्टी क़लम थामे।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर।

कुँवरनारायण

ये कविताएँ एक तरह से ऐतिहासिक या इतिहास-सम्बन्धी कविताएँ कही जा सकती हैं। इतिहास—विशेषकर भारतीय इतिहास—अतीत गौरव गाथा से भिन्न अर्थों में भी महत्व रखता है और उसका एक ऐसा भी पक्ष है, जिसे कविता के माध्यम से अनुभूति के सूक्ष्म स्तर पर मूर्त किया जा सकता है। इन कविताओं में इतिहास से सीधे प्रेरणा नहीं ली गई है, बल्कि कई वर्तमान ऐतिहासिक स्थानों और भग्नावशेषों के सहारे अतीत को विभिन्न काल्पनिक खंड-चित्रों में रख कर देखा गया है। इतिहास केवल सहायक रूप से आया है, साध्य होकर नहीं। इनमें तब की यथार्थ परिस्थितियों पर उतना ध्यान नहीं रखा गया है, जितना उन मन:स्थितियों पर, जो आज भी प्राचीन से प्रभावित होती हैं।

पहली कविता का शीर्षक है, 'पहले भी आया हूँ', जिसमें अतीत से एक अटूट रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया गया है :—

पहले भी आया हूँ

जैसे इन जगहों में पहले भी आया हूँ,
बीता हूँ

जैसे इन महलों में कोई आने को था,
मन अपनी मनमानी खुशियाँ पाने को था :
लगता है—
इन बनती-मिटती छायाओं में तड़पा हूँ,
किया है इन्तज़ार
दी हैं सदियाँ गुज़ार,
बार-बार
इन ख़ाली जगहों में भर-भर कर रीता हूँ,
रह-रह पछताया हूँ,
पहले भी आया हूँ,
। बीता हूँ।

इस कविता 'स्रष्टा' में इतिहास के नाशवान तत्वों की अपेक्षा मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों में आस्था दिखाई गई है :—

स्रष्टा

संक्रमित विश्वास की नाजुक गुलाबी बेल-सी
मेरे सहारे अनाहत जीवन-किरण बढ़ती रहे :
इतिहास कहता,
''अंधेरे में साँप है—इस किरण को डँस जायगा!''

ओ किरण, तू मेरे हृदय में वास कर,
वह साँप मुझको डँसे
तू बच जायगी।
मैं दो कलों के बीच अन्धी दिशाओं में बन्द हूँ,
मैं कुचलने से बच नहीं सकता :
पर तू सूक्ष्म है—
शायद हमारी साधनाओं के ललित-नैवेद्यों में ही बची रह जाय!

हे प्रजापति,
अर्थ-जर्जर इस पुरातन सृष्टि को
हम जी चुके हर दृष्टि से परलोक तक :
उस प्यास की अति-स्पृहा तो आत्मा को सोख जाती है।
मोक्ष के अधिकार से वंचित
हमारे वस्तुवादी शब्द वे पाषाण हैं, जो पिघल सकते
यदि तुम्हारा विश्व-लीला-रूप सुन्दर हो।

सच कहूँ तो—
आत्मा तक हम अजीवित पात्र खाली हो गए
लाखों बरस संसार को हर अहं की निष्पत्ति तक जीते हुए,
हम जन्म से बीते हुए
हर बार केवल वही शिल्पी हाथ—टूटी सृष्टि—
अमृत बाँटते
शिव के उपासक, हलाहल पीते हुए।

निम्न चार कविताएँ क्रमशः 'श्रावस्ती', 'कोणार्क' और 'फ़तेहपुर सीकरी' से सम्बन्धित हैं।

श्रावस्ती

समय के समतल उतर कर
हाथ जोड़े-सी गुजरती
एक नतमस्तक अपरिचित शाम।
यूँ ही याद आतीं—
वे खंगाली सभ्यताएँ खंडहरों की तूंबियों में....

नहीं,
कुछ अब भी बची है कीर्ति-गाथा,—
जिस तरह आक्षितिज सहसा गूँज कर
गूँजता रह जाय कोई चक्रवर्ती नाम।
जेतवन की परिव्राजक हवाओं में
आह, उन अनुपस्थितियों का स्पर्श,
जिनके बाद भी अस्तित्व में कुछ अर्थ बाकी है।

कोणार्क

सुख-मुग्ध अलस आकृतियाँ,
विलसित काम-मुद्राएँ
देव-रक्षित काल-मुक्त
एक अतीन्द्रिय तन्मयता के मांसल संकेतों में कहतीं—
कि जीवन आह्लाद है, शर्म नहीं।

वह जो इन निर्विकार प्रस्तर-प्रतिमाओं को अर्पित कर
प्रसाद-रूप ग्रहण हुआ—
हम जीवन के वशीभूत देवतुल्य
उन्हीं स्फुलिंग सुखों के सहभोक्ता हैं :
अंधी गुफाओं में मुँह ढाँके धर्म नहीं।

ये महान शिलाचित्र,
सूर्य के प्रकाश में
अकुंठित आत्मा की निष्काम व्याख्या हैं :
जीवन की भरपूर स्वीकृति,

लाखों विरोधों में
किसी आधार-संगीत की अनुकृति।

रास्ते *[फ़तेहपुर सीकरी]*

वे लोग कहाँ जाने की जल्दी में थे
जो अपना सामान बीच रास्तों में रख कर भूल गये हैं?
नहीं, यह मत कहो कि इन्हीं रास्तों से
हज़ारों-हज़ारों फूल गये हैं....
वह आकस्मिक विदा! *[कदाचित व्यक्तिगत!]*
जो शायद जाने की जल्दी में फिर आने की बात थी!

ये रास्ते, जो कभी खास रास्ते थे,
अब आम रास्ते नहीं!
ये महल, जो बादशाहों के लिए थे
अब किसी के वास्ते नहीं।
आश्चर्य, कि उन बेताब जिन्दगियों में
सब्र की गुंजाइश थी!—
और ऐसा सब्र कि अब ये पत्थर भी ऊब रहे हैं।

एक थी रानी / *[फ़तेहपुर सीकरी]*

इन परछाइयों के अलावा भी कोई साथ है :
सीढ़ियों पर चढ़ते हुए लगता है
कि वहाँ कोई है, जहाँ पहुँचूँगा!
मुडेरों के कन्धे हिलते हैं,
झरोखे झाँकते हैं,
दीवारें सुनती हैं,
मेहराबें जमुहाई लेती हैं,
गुम्बद, ताज़ियों के गुम्बद की तरह
हवा में काँपते हैं।
तालाब के सेवार-वन में जल की परछाइयाँ चंचल हैं,
हरी काई के कालीन पर एक अनात्मा देह लेटी है
और मीनारें चाहती हैं
कि लुढ़क कर उसके उरोजों को चूम लें।

भवानीप्रसाद मिश्र

पहले बरसों तक काव्य का ढंग बदलता नहीं था और बदलता था तो ऐसे अनजाने और धीमे-धीमे कि परिवर्तन का अन्दाज़ इस खटके के साथ तो होता ही नहीं था जैसा आज पल-पल पर होता है। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल। सौ-सौ, दो-दो सौ बरस तक बल्कि और भी ज़्यादा समय तक काव्य की एक-एक शैली ही चलती रहती थी। मार्क्स का कहना है कि तत्-तत्कालीन वाहनों की गति के अनुसार समाज की गति होती है। उपनिषदों में शायद इसी बात को 'आस्तेभग आसीनस्य' आदि के द्वारा व्यक्त किया गया है। हमारे पूर्वजों ने युगों-युगों तक बैलगाड़ी ही देखी। हाथी, ऊँट, रथ आये तो बैलगाड़ी को उन्होंने हटा नहीं दिया; वह भी चलती रही, ये भी चलते रहे। मगर हमने अपने होश में साइकिल, रेल, मोटर, जहाज़, हवाई जहाज़—फिर हवाई जहाज़ों के प्रकार अर्थात् गति में भाप, पेट्रोल, बिजली और अणुशक्ति का उपयोग होते देखा और अब लेसर किरणों का उपयोग होते देख रहे हैं।

इन गतिवान वाहनों का समाज की गति और काव्य की गति पर भी असर पड़ा है। बिजली का बटन दबाते ही जैसे कुछ का कुछ हो जाता है, काव्य का रूप भी वैसे ही कुछ का कुछ हो गया है। पहले यात्रा में कष्ट और जोखिम थे कि कोई यात्रा के लिए यात्रा करने की बात सोच ही नहीं सकता था, धर्म या व्यापार या विद्यार्जन, कोई न कोई यात्रा-इतर उद्देश्य प्राय: होता था। अब जोखिम प्राय: समाप्त हो गया है और 'टूरिज्म' एक शगल हो गया है। यात्री तो सदा होते थे, लेकिन यात्रा के शौकीन शायद विरल होते थे।

हम यानी भारतीय एकाएक गति के आधुनिक स्तरों तक नहीं पहुँचे हैं, यात्रा हमारे खून में स्वभाव या शौक़ बन कर एकाएक समा नहीं पाया है और हमारे यहाँ यात्रा-वाद रूढ़ नहीं हो पाया है तथापि हमारा मुँह भी है उसी ओर!

यही हाल हमारे काव्य का है। हमने अपने अछत ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को आते देखा; और देखते ही देखते उसमें छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के आन्दोलन आये। नयी कविता भी 'इसकी', 'उससे' नहीं मिलती; क्योंकि शायद लिखने के पथ के जोखिम नहीं हैं—छन्द, लय, तारतम्य, यहाँ तक कि अर्थ की आवश्यकता। पानी पर भी लकीर खिंचती है, आसमान में भी।

यानी बड़ी गति से कविता बदल रही है। इसमें ठहरकर खड़े हो जाना, किसी जगह को अपनी मान कर वहाँ स्थिर रहना, आराम से सोचकर जमाकर या दु:ख को

सहेज कर जी की बात कहना कठिन हो गया है। कठिन काम भी करणीय हो सकता है अगर अपने सिवा किसी और के लिए उसके किये जाने की ज़रूरत लगे। लेकिन आज ऐसे सोचे-समझे, स्थिर भाव से लिखे हुए की इस भाग-दौड़ में किसी को जरूरत नहीं लगती; और जब किसी को उसकी ज़रूरत नहीं लगती तो केवल अपने लिए तो करणीय कुछ भी नहीं है। इसलिए अब कविता अपने लिए भी नहीं इससे भी एक क़दम आगे बढ़कर यानी कविता कविता के लिए लिखी जाने लगी है। मैं थोड़ा उपयोगितावादी आदमी हूँ। इस तरल स्थिति में बैठे-बैठे या बेकाम के काम करके सुखी नहीं हो सकता; इन दिनों बीच-बीच में भाषा को माँजने के खेल करता रहता हूँ। सोचता हूँ, शायद यह कवायद किसी दिन काम पड़े। काम पड़ने का मोह इस कवायद में दिखायी भी पड़ जाता है। तो कवायद पेश है। इस कवायद में न बैलगाड़ी दिखती है न लेसर किरण :—

यानी अब कविता की आत्मा किसी अत्यंत गतिवान उड़ते ही रहने वाले पक्षी की तरह है, और इसीलिए उसे किसी दिन पाने की आशा वही कर सकता है जो अपने हज़ार कामों और व्यस्तताओं के बीच व्याकुल भाव से उसके पीछे उड़ता चला जा रहा हो। पहले के कवि की व्यस्तताएँ कम थीं, वह एकान्त भाव से कविता-रत रह सकता था और अधिक आशा रख कर। अब यह काम पहले से बहुत अधिक कठिन हो गया है और आशावादी रहकर तो यह निभते ही नहीं दिखता। इस तरह निभे यही आपके कवि का सबसे बड़ा पुरुषार्थ मुझे लगता है। डर लगता रहता है कि संभव है सारी उम्र यात्रा में गुज़रे और कविता की आत्मा का छोर भी हम न छू पायें। मगर तब मैं सोचता हूँ, यात्रा तो कम से कम उस पंथ की हो जाये जहाँ से होकर कविता आती-जाती रही है।

लोग प्राय: पूछ लेते हैं, तुम कविता लिखते कैसे हो? एकाएक प्रेरणा पाकर, या बैठ जाते हो और लिख लेते हो?

सच कहो तो इस प्रश्न का कोई जवाब नहीं है। फिर भी मुझे लगता ऐसा है कि ज्यादातर तो कविता के बीज मन में बहुत पहले के पड़े होते हैं। कभी ऐसा होता है कि उन पर अनायास पानी छलक जाता है, या हम कभी प्रयत्न पूर्वक उन्हें सींच देते हैं या उन पर कभी सावन-भादों बरस जाते हैं और उसमें या उनमें अंकुर फूट निकलते हैं। बीज वट का हो और उसे वैसा विस्तार मिले तो वट-वृक्ष बनता है और अगर बीज किसी नन्हें फूल के पौधे का हो और उसे उतनी चिन्ता मिल जाये तो राशि-राशि बेला, चमेली, गुलाब, गेंदा खिलते और झरते हैं।

हर कविता की अपनी जन्म-कथा हो सकती है और अगर आप इजाज़त दें, तो कहना चाहता हूँ हर कविता की जन्म-कुंडली बन सकती है। बहर-हाल इसे तूल दिये बिना थोड़े में कहूँ तो बात ऐसी है कि प्रयत्न पूर्वक और अनायास दोनों ही तरीक़ों से कविता लिखी जा सकती है और लिखी जाती है। केवल लिखने की ही बात ऐसी हो, सो नहीं हैं, कविता पढ़ी भी इसी तरह जाती है। कभी ऐसा होता है कि हमने एक

कविता पढ़ी और उसने हमको कुछ नहीं दिया। देना-लेना दूर हमसे बोली तक नहीं; कभी ऐसा होता है कि हमने उसकी तरफ़ देखा और देह पुलक से भर गयी! यानी बहुत अनिश्चित चीज़ है यह कविता। कम से कम आदमी के बराबर अनिश्चित। मुझे कितने लोग अच्छा मानते हैं, कितने बुरा। सारा खेल सम्बन्धों, सन्दर्भों और सहानुभूति का है। कविता तर्क नहीं है कि अपने को सिद्ध कर दे और न घटना है कि बावजूद परिस्थितियों के आपको स्वीकार करनी पड़े। तथापि संसार के समूचे कवित्व और उस पर समूची प्रतिक्रिया को सोचें तो दिखता है कि वह तर्क की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। प्रेम और त्याग और बन्धुता और पराये के लिए मर मिटना आदि मानवीय गुणों को जितना उसने जगाकर रखा है, किसी दूसरी चीज ने उतना नहीं; यहाँ तक कि धर्म ने नहीं, दर्शन ने नहीं, विज्ञान ने तो बेशक नहीं।

इतनी बड़ी शक्ति को अंशत: ही सही, पाने के लिए प्रयत्न न लगे यह संभव नहीं है। किन्तु यह प्रयत्न पसीने से उतना सम्बन्ध नहीं रखता जितना हृदय को खुले रखने से रखता है। बुद्धि की कसरत भी वह नहीं है। छंद और अलंकारों का प्रयोग करना अजब नहीं है, उनको उलटाते-पुलटाते रहना ठीक है, ज़रूरी भी हो सकता है; लेकिन आखिरकार वह फौजी की उस क़वायद की तरह है जो युद्ध के मैदान में उसके काम पड़ती है केवल क़वायद करते जिस फ़ौजी की उम्र गुज़र गयी, उसकी उम्र अकारथ नहीं गयी, ऐसा कौन कह सकता है? इसलिए प्रयोग जो हम करते हैं अन्ततोगत्वा किसी परम घड़ी में अनायास क़लम से उतरते चले जायें इस इच्छा से करते हैं। और प्रयोगावस्था में भी उनमें उतनी लय, उतना छन्द, उतनी सजावट और अर्थ आदि तो होते ही हैं कि अगर किसी को कोई और काम न हो तो वह हमारी इस क़वायद को बैठा देखता रहे और ख़ाली वक़्त उस पर गराँ न गुज़रे!

नयी कविता के सम्पादक द्वारा चुने हुए कुछ प्रयोग इस भूमिका के साथ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

(1) श्रव्य-हव्य

सुनायें?
भवानीप्रसाद मिश्र की कविताएँ?

नहीं ;
यह झंझट और कहीं!
हमें तो तुम संग्रह दे दो
पढ़ लेंगे
छपी हुई चीज़
हिमालय भी हो
तो
हम चढ़ लेंगे!

मगर भाई,
ये पठ्य उतनी नहीं हैं
जितनी श्रव्य हैं!

तो भाड़ में डालों उन्हें;
अर्थात् जो पठ्य उतनी नहीं हैं
वे चाहे जितनी श्रव्य हों
हमारे लेखे हव्य हैं!

(2) स्वर के बागवान

धीरे-धीरे
अनजाने
हमारे चारों तरफ़
सैकड़ों साँपों ने
फन ताने
लेकिन हम बेख़बर
बजाते रहे बीना
और
अनजाने में ही
बंद जब उसे किया
सैकड़ों ज़हरीले दाँत
शरीर-भर में गड़ गये
बंद हो गया जीना
बीना के वादक का
सरगम के साधक
वहीं पड़े-पड़े सड़ गये।
साँपों का क्या था, चले गये
फनों को करके नीचा
शर्म से नहीं, गति से
लोगों ने हज़ारों साल बाद
खोज की

कि पहले यहाँ था
स्वरों का एक बाग़ीचा
जिसके फल
अब पाषाण हो गये हैं
उन पाषाणों के रक्षक
बहुत दिनों
रहे तक्षक
और अब
सारे संसार में
वे ही जहाँ-तहाँ
बागवान हो गये हैं!

(3) कृष्ण राधे!

कौए और कछुए
जो होते मछुए
तो क्या होता?
मछलियाँ इतनी न पकड़ी जातीं
और जितनी पकड़ी जातीं
उनमें से बाज़ार में बिकने
एक भी न आतीं!
कौए अपने खाने-भर को पकड़ते
और कछुए? वे थोड़ी देर
झक मारते और चले जाते अपने घर को
यानी वहीं कहीं पानी में;
क्या फ़र्क़ करें कोल्हू और घानी में
एक तेल निकालता है
दूसरा चूना पीसता है
बैल दोनों को घसीटता है
आँखों पर पट्टी बाँधे!
कृष्ण राधे! कृष्ण राधे!!

(4) अँधेरे की हिना

अँधेरा
किसका प्रेरा
छाया
उतरा
समाया
कन-कन में
बाहर-भीतर मन में?
विराम चिह्न हैं
सुबह-शाम
नाहक ही अँधेरे-रसहीन
अती दीन गद्य के
ज्ञानाध्ययन कर्म के
स्वभाव-धर्म बदल गये
बल देने वाले पल
जाने कहाँ टहल गये!

किसका प्रेरा
अँधेरा हो गया
हर सबेरा
हर शाम किसकी प्रेरी
हो गयी क्रन्दन की चेरी
क्षण-क्षण की कामधेनु
और तो और
छेरी भी नहीं बची
रची-पची साँसें तक
प्राणों को रास नहीं आतीं
गहरी खींचो
तो लोग हँसें
साधारण चलने दो
तो कष्ट की

बारूदी-बास नहीं आती
वैसी
जैसी चाहिए अँधेरे में
वास्तव से बचने के लिए
शब्द जो उजाले थे
काले हो जाते हैं
उनको यदि छूता हूँ
शक्ति रचने के लिए
काले, मनियारे विष के निधान
कल्पना के विमानों में आते हैं
क्या ऐसी घड़ियों में भी
कवि को
मानव होना मना है
क्या हर हालत में
उसका वज्र-प्राण
गाने के लिए बना है?
क्या खोलकर कंठ रोने की बात
उसके लिए कभी नहीं होने की ठीक?
क्या यह भी नहीं है लीक?
यह दुख में हँसना?

नहीं, नहीं मन
बहस में मत पड़ो
अभी तो तुम्हें दुखना है दुखो
इस अँधेरे में चुपचाप
त्रिविधताप कवि और जितने
आयें
अभी तो उन्हीं को देखो
दृष्टि के बिना!
अँधेरी की मेंहदी
हाथों भेंड़

साँसों में
अँधेरे की हिना!

(5) रितु वर्णन

पलास
अमलताश
एक के बाद एक
हताश।

(6) हास्यास्पद

नख-रद के
बल की घोषणा
उससे तो अच्छी
उपोषणा!!

(7) भाँग और अफ़ीम

अफ़ीम और भाँग
गंगा और याङ्तिसीक्याँग
मैं नहीं दूँगा
तू माँग चाहे मत माँग
क्योंकि
तेरी बकरी के
चार थन
मेरी मुर्ग़ी के तीन टाँग!
'के'?
हाँ, हाँ 'की' नहीं
तूने भाँग खाई है
मैंने अफ़ीम पी नहीं!

भाँग और अफ़ीम
दोनों की दवा नीम

मिठाई नहीं
ये भाई-भाई नहीं
सिर्फ़ नशैल या कहिए
एक ने खाई है दूसरे ने?
पी कहिए!
लेकिन हैं दोनों नशे में
नशा हिरन कब होगा?
अब होगा, तब होगा
सोचते मत रहो
इनके कुटुम्बियो,
सब कहो इनसे चिल्लाकर
कि अक्ल से काम लो
दूसरों को तीसरा युद्ध छेड़ने तक
तुम मत अफ़ीम या भाँग का
नाम लो!
होश में रहो
दूसरे
जब तीसरा युद्ध छेड़ दें
तो भाँग पियो अफीम खाओ
और
एक दूसरे से कहो—
कि हाँ, अब आओ!

(8) सम्माननीय

आप कौन हैं?
क्यों? क्यों बताएँ?
इसलिए
कि हमारे मन में
आपके प्रति
जो सम्मान की भावना है
उसे हम आपका नाम लेकर

आपको बताएँ!
लेकिन क्यों?
श्रीमान् यों
कि हमको उससे
इज़्ज़त मिलेगी
आपका क्या है
आप तो अब बूढ़े हो गये हैं
जाते-जाते नाम ही बता दें
कि हम आपके नाम के
बाजे बजाकर
हमारे मन में आपके प्रति
सम्मान की जो भावना
व्याकुल है
सो अहसान फरामोश
दुनिया को जता दें।

(9) आधुनिकता-बोध

यह भीड़-भाड़
ये होटलें, ये दूकानें
ये सड़कें, ये भाषण के मैदान
हो जाता हूँ हैरान मैं
इनके मारे!
मगर इनके बिना भी तो
नहीं चलता;
मन गोया स्टोब है
जो इस घासलेट के बिना
नहीं जलता!

(10) और

पानी भी रुक गया
हवा भी रुक गई

चाँद पूरा निकल आया सिर पर
आँखों के आगे धरती झिलमिल और धुली
पड़ी थी दूर-दूर तक।
एक तरफ़ अलबत्ता
काले बादल अभी तक सघन थे—
मगर वह तरफ मेरी नहीं थी
क्योंकि मेरे हिस्से में उस दिन
सबेरे से ही अँधेरी नहीं थी
यानी जब
पानी गिर रहा था
हवा चल रही थी
चाँद का जब पता नहीं था
तब भी किसी कौशल से
आँखों में पानी रुका हुआ था
मन में आँधी थमी थी
तुमने भी नहीं जाना उस दिन
मुझमें जो कमी थी
और तुमने
मेरे कंधे पर सिर धर दिया
मैंने तुम्हें
ऐसे इतमीनान से
बाँहों में भर लिया जैसे मेरी आँखों में अब
पानी कभी नहीं आयेगा
न मन में आँधी चलेगी
न अँधियारा छायेगा!
कोई-कोई पल
होता है सबल इतना
कि जो माँगो सो
दे देता है खेल-खेल में
और उस दिन तो
मैंने माँगा भी नहीं था कुछ

पल से या पहर से
पर अँधेरी मेरे भाग में ही नहीं थी
उस दिन, रात तक शहर से
उस दिन पानी रुका था
आँधी थमी थी!
उस दिन
तुमने भी नहीं जाना
मुझ में जो कमी थी!

परिचय

अनाम की कविताएँ

(कुँवरनारायण)

अनाम की 72 कविताओं का अप्रकाशित संग्रह 'सागरी' मेरे सामने है। इनमें से कुछ कविताएँ 'युगचेतना' तथा 'नयी कविता' के पिछले अंकों में छप चुकी हैं—अधिकांश अभी अप्रकाशित हैं। रचना-काल की दृष्टि से ये कविताएँ पिछले कई वर्षों के दौरान में, कभी-कभी मिल जाते अवकाश-के बीच, रची जाती रही हैं। अनाम मुख्यत: कवि नहीं, न मूर्तिकार, न चित्रकार—ये तीनों ही वे अवकाश के क्षणों में हैं—मुख्यत: उनका कार्य-क्षेत्र वनकृषि तथा वनस्पति-विज्ञान से सम्बन्धित है, लेकिन कला के प्रति उनका स्वाभाविक झुकाव इतना आनुषंगिक नहीं रहा कि वह गंभीर कला के अन्तर्गत विचारणीय न ठहरे।

कविताओं की मूल प्रकृति अध्ययन, चिन्तन और एकान्तप्रियता से जुड़ती है, जीवन की व्यस्तता और दैनिक जटिलताओं से नहीं। अस्तित्व और अनस्तित्व सम्बन्धी चिन्ताएँ, प्रेम के उदात्त रूप और शारीरिक सीमाएँ, मार्मिक तथ्यों को छूते हुए मांसल प्राकृतिक चित्र, गूढ़ मानसिक भंगिमाएँ—कुछ अत्यन्त सरल दायरों में समाविष्ट करके भी इन कविताओं को देखा, और उनसे तटस्थ हो जाया जा सकता है : लेकिन इस तरह से देखना शायद शब्दों में निहित उस सूक्ष्मतर काव्यभाषा से अछूते रह जाना होगा जिसकी ओर कवि ने कई जगह संकेत किया है—

> आओ नाम दें
> जिससे चिरन्तन नामबद्ध
> कहें तो लोग यह निधियाँ हमारी थीं
> हमी ने भाग कर जिनको पृथक् कर
> भाव भाषा के अनर्गल ऐक्य से
> ....
> मृतक शब्दों का असंगत योग
> रह गये हैं नाम यानी
> यदि उन्हें हम नाम दें....

अनाम की कविताओं को विचारने से पहले कविता की भाषा पर कुछ विचार आवश्यक है। कविता का मूल आश्रय शब्द है—वैसे ही जैसे गद्य का मूल आश्रय भाषा है। (यहाँ मैं केवल शब्द और भाषा का सापेक्ष महत्त्व स्पष्ट करने के लिए ही उन्हें

स्वतंत्र मान कर चल रहा हूँ—वस्तुत: तो शब्दों के बिना भाषा का ही प्रश्न नहीं उठता) कविता में जिस तरह भाषा के बहुत से नियमों की अवहेलना सम्भव है, वैसी गद्य में नहीं। इसीलिए कविता में वाक्य-विन्यास की अपेक्षा शब्द-विन्यास अधिक मायने रखता है। प्रतीकवादी कवि मलार्मे ने जब कहा—''कविता भावों पर नहीं, शब्दों पर निर्भर है,'' तो उसका संकेत कदाचित् इसी तथ्य की ओर था। भाषा के नियम शब्दों को किसी निश्चित अर्थ या अर्थों की दिशा में बाँधते हैं, जब कि कविता स्वभाव से ही अनेकार्थक होती है। कविता का विश्लेषण शब्दार्थ-सम्बन्धी (सेमैण्टिक) नियमों से ही अधिक आग्रहीत होना चाहिए कम से कम नयी कविता का। काव्य रचना का यदि सारा नहीं तो काफ़ी प्रयत्न इसी ओर रहता है कि शब्दों की शक्ति का—स्पष्ट तथा निहित—अधिकतम प्रदर्शन हो, उनसे यथासम्भव अधिक से अधिक अभिप्राय निचोड़ा जा सके। इसीलिए शायद शब्दों के अतिरिक्त और किसी आधार पर कविता को गद्य से अलग करना इतना कठिन होता है।

हो सकता है, इसी से भाषाओं के शैशव और युवा काल अधिक काव्यमय हुआ करते हैं—व्याकरण आदि के नियम तब शिथिल होते हैं; शब्द प्रामाणिक अर्थ देने के बजाय प्रतीकार्थक अधिक होते हैं; पर जैसे-जैसे भाषाओं के विकास में शब्दों के अर्थ रूढ़ होने लगते हैं, उनकी विविधार्थकता क्षीण या सीमित होने लगती है, यहाँ तक कि वे निर्जीव हो जाती हैं। उन्हें पुन: अनुप्राणित करने के लिए समय-समय पर साहित्यिक आन्दोलनों की आवश्यकता पड़ती रहती है, और यह नितान्त आकस्मिक नहीं कि इन आन्दोलनों का सबसे सक्रिय क्षेत्र काव्य होता है।

अनाम की कविताओं में भाषा के तत्त्व न्यूनतम हैं। शब्दों को सामान्य से अधिक महत्त्व दिया गया है, यहाँ तक कि कविताएँ कहीं-कहीं बिल्कुल दुरूह हो गयी हैं। पाठक यदि भाषा के नियमों की इस कमी को अपनी ओर से किसी हद तक पूरा करने में समर्थ नहीं तो उसके लिए ये कविताएँ बिल्कुल ही निरर्थक सिद्ध हो सकती हैं। इन कविताओं के द्वारा रसानुभूति तभी सम्भव है, जब सूक्ष्म संकेतों और मार्मिक चिन्तन-भंगिमाओं के सहारे संवेदनशील पाठक इनकी व्यापक परिधि में विचरण कर सके : निश्चित निर्देश पाने का आग्रह न हो, इंगित पर्याप्त हो—बल्कि, इंगित ही वांछित हो!

हम बड़े पत्थर तैरायें

बढ़ते सैलाबों में

[इनका तल से सहवास है]

हम खड़े तिनके डुबायें

ढलते आबों में

[इनका गति से सहवास है]

न नील की शिला तैरी थी

रात में पहाड़ दूना होकर
दाबेगा छत को
बड़े रास्तों पे लम्बे हाथ
रोकेंगे पथ को
सीमाओं से छिद्रित है
ख्यालों का जाल
पत्थर के नीचे (छत के)
पत्थर के ऊपर (पथ के)
रोशनी में परछायीं
अँधेरे में खाल
पुरुषार्थ की सीमा
चीटियों की मंजिल है

विशुद्ध तार्किक दृष्टि से यह कविता अपर्याप्त है—विभिन्न शब्दों और वाक्यांशों को इस तरह जोड़ना सम्भव नहीं कि एक सुनिश्चित बात समझ में आये—फिर भी इसमें कुछ ऐसे स्थल और अनुगूँजें हैं जो एक विशेष 'प्रकार' का विचार और भाव मन में उकसाती हैं, जिसके बारे में द्विविधा नहीं हो सकती। विपरीत ढंग से कहें तो, यह कविता हास्य, बीभत्स, रौद्र, वीर आदि रसों से सम्बन्धित नहीं—अनिश्चित होते हुए भी यह कविता एक निश्चित भाव-क्षेत्र की ही है, और उसमें कुछ उक्तियाँ, बिम्ब शब्दादि ऐसे हैं जो पढ़ने वाले को उस क्षेत्र में सोचने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। कविता की सीमा को ही यदि पाठक अपनी भी सीमा मान ले तो यही नहीं, ऐसी बहुत सी कविताएँ अपूर्ण लगेंगी जो प्रभाव के लिए मूलत: भाषा के अप्रकट साधनों पर निर्भर करती हैं, जैसे वक्रोक्ति, श्लेष, अप्रस्तुत उपमान आदि।

अनाम के अधिकांश बिम्ब प्रकृति से लिये गये हैं, लेकिन वे जिस रहस्यमयता की ओर संकेत करते हैं, उसका आधार छायावाद की तरह दार्शनिक न होकर शुद्ध सौन्दर्यवादी है। काफ़ी समय पहले अनाम के कुछ चित्र तथा काष्ठ-मूर्तियाँ देखी थीं : उन पर स्पष्ट ही अतियथार्थवाद—सुर्रियलिज़्म—का गहरा प्रभाव था। बाद में उनकी कविताओं को देखा तो लगा कि इनको भी उन प्रभावों से अलग नहीं समझा जा सकता। पाल एलुआर की कविताएँ, सालवेडार डाली के चित्र, एक दूसरे पर सरकती हुई तमाम जानी-अनजानी आकृतियाँ, उर्दू शायरी के लहजे, मुहावरे, छन्द आदि की गूँजें, हिन्दी लोक-गीतों की धुनें, वन-विजन की अनमनी शामें—ये सब एक साथ स्मृति में आने-जाने लगते हैं, इन कविताओं को पढ़ते समय। निधियाँ, जिनकी ओर ये कविताएँ संकेत भर करके चुप हो जाती हैं—या उदास हो जाती हैं—स्वयं कितनी समर्थ हैं? इनके सहारे हम जिन अनुभूतियों तक पहुँचते हैं, कितना वे कविताओं पर निर्भर हैं, कितना हम पर?

मरुस्थल परछाइयों से नहीं सिंचते हैं

....

कि मैं
अक्स से माजूर
असलियत को माँगता रहा
हर एक नाक़ामी की याद
तुम्हारे दामन में गिरह बाँधता रहा
और तुम परछाईं की तरह चाँद के साथ
गुज़रती रहीं मुझसे दूर मेरे आगे मेरे बाद

जो कुछ दीखता है इन कविताओं में, क्या वह केवल एक सुन्दर भ्रम है, देखने वाले की आँखों का?—या इन कविताओं में ऐसी एक संवेदनशीलता है, जिसके निश्चित स्पर्श को हम महसूस करते हैं?

इन कविताओं के पक्ष में शायद कोई अकाट्य दलील दे सकना सम्भव नहीं, जब कि विपक्ष में ऐसी कई आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं जो नितान्त संगत हों। व्यापकता और विविधता की दृष्टि से इन कविताओं की पहुँच सीमित है : कुछ ही बिम्ब, लेकिन कई तरह और नयी-नयी तरह आते हैं....

पानी तैर रहा है
आलोक जल कर राख हुआ जाता है

....

शेष केवल
सर्प की कटी पूँछ-सी तिलमिलाती सन्ध्या है
आवरण सन्ध्या है
इसी धूसर पट से
आती रात पहिचानी है
जिसकी नग्नता में कल्प जड़े हैं तारे

....

आवरण से भिन्न भी कोई नग्नता है

....

हरा गहरा स्थिर पानी
और एक दिवाल किनारे
गीला कितना गीला प्रतिबिम्ब सिहरता
पानी में सर्दी के मारे

....

कंचुकी है यह कमल
या कसी कंज उरोज पर
कितने वसन हैं बह रहे
इस डाल पर उस मौज पर

'स्थिर जल', 'परछाईं', 'नारी', 'पवन', 'तारे', 'चाँद' आदि के परिचित बिम्ब जगह-जगह आये हैं, लेकिन पुराने संदर्भों से अलग होकर। एक विरल चेतना में तैरते हुए शब्द या शब्द-समूह, तरह-तरह से जो बोध कराते हैं, उसे लेकर शुद्ध काव्यानन्द—प्योर पोएट्री—जैसी किसी चीज की बात मन में आती है। क्या ऐसा भी कोई काव्यानन्द सम्भव है जो शब्दों की शुद्ध स्वायत्तता पर निर्भर हो, वस्तुओं के स्थूल आग्रह से मुक्त? प्रतीकवाद तथा उत्तर प्रतीकवाद के बहुत से कवियों ने अन्य कला-क्षेत्र के रसानुभवों को शब्द में उतारने का प्रयत्न किया, जिसके कारण कविता अत्यन्त दुरूह हो गई, लेकिन इन प्रयोगों का काव्य-भाषा पर बड़ा ही क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा। मलार्मे ने स्वयं संगीत के कुछ रसों को काव्य में उतारने की कोशिश की—किसी हद तक सफल भी हुआ, लेकिन कविता के द्वारा विचारों की प्रेषणीयता की दृष्टि से अधिक नहीं। उससे कहीं अधिक सफल प्रयोग वर्ले और रिम्बो के हुए।

प्रतीकवाद और अतियथार्थवाद की उपलब्धियों को देखते हुए शायद अनाम के प्रयत्न बहुत नयी चीज नहीं, लेकिन इस दृष्टि से इन कविताओं का महत्त्व असंदिग्ध है कि हिन्दी में ये शब्दों को लेकर एक नये तरह के प्रयोग की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं। विषय-विस्तार की कमी बहुत कुछ एक मार्मिक गहराई से पूरी होती है। सामान्यत: जनप्रिय न हों तो भी इनका साहित्यिक मूल्य विचारणीय है, तथा हिन्दी नयी कविता के विशिष्ट प्रयोगों में स्थान पाने योग्य।

सागरी और शीर्षकहीन कविताएँ/अनाम

सागर के महल
रिमझिम अपनी छाया में
आधी रात के पीछे
दूर हवा में हिलते
जुगनुओं के पत्ते हैं
कठोर सा नीला जल
मैंने आरपार देखा
लहर की अँगराई के
उस पार तारा फीका है
जल की तरलाई में

उसके अंग मसले हैं
जल की गलबाँहों ने
सागर सी श्याम वह
लहरों की छाया
सागर की शय्या में

जल ने आकार बाँधा है
मुँदी मीन झलकों से
जिसके अंग फिसले हैं
सागर सी हरी गहरी
सागरी की आँखें हैं

उसकी दमक छलकी है
लहरों की झिलमिलियों से
सागर के महल चुप हैं
चाहों की मंज़िल है

अर्द्ध-निशा के पीछे
मैं भी तो गुज़रा हूँ
उन विशाल दरवाज़ों से
समन्दर की ख़ाक छानी है
हवाओं से उलझा हूँ
सागर के महलों में

हवाओं के परिन्द
काले पंखों को फाड़
चाँद पर छा गये
मैंने भी चाँद रोका है
अपने खुले हाथों से

आधी रात के पीछे
हरचन्द गुज़रता हूँ

सागर के महलों से
सागर हैं सलोनी
सागरी की आँखें हैं

1

जहाँ मैं लेटा था
मकान फिर आया
माँ सा छाया
चारों ओर गर्माया

मैं उठा
तो उसकी आँखें बन्द थीं
अब उसकी बारी थी
एक साथ जागें
कैसे और कहाँ
मकीं और मकाँ

2

कमरे की दीवारें भागीं
बिचके परिन्दों सी
मैंने एक कोना पकड़ा
तो दूसरा गोल हुआ
फर्श लटकी टहनियों पर
जिसे बाँसों से कोंचा
शैतान लड़कों ने
घोड़ों की वीरान टापों से
छत तितर-बितर हुई
जो मकान था इतना फूला
कि समन्दर हुआ
रहे इसमें कारवान
या अलइन्सान

3
एक प्याज का दाना
पहली काई रेशम
चौथी परत पलस्तर
बारहवीं अट्ठारहवीं
कि भीतर मिले परत की जान
कहाँ है मूर्ति कहाँ इन्सान
परतों में परतें हैं
परतों में कुछ भी नहीं

4
एक उमंग आई
मेज़ पे पैर धरे
नीचे झाँका
फटे कागज़ों की टोकरी उलटी
अख़बार सँवारे
सिगरेट के ठूँठों से मकान बनाया
झपकियाँ लीं जम्हुआई

रोशनदान से छलाँग मार
यह जा वह जा
नौ दो ग्यारह

5
किनारों पर संकुचित
काँच के गोलाकार बड़े
शेर की खाल में जड़े
जहाँ प्रकाश का पीलापन
सारा सिमट कर संतुलित है
नेत्रों के चर्मभेदी आघात का
प्रखर संस्मरण है

संतुलन जो दो तीक्ष्ण पुंजीभूत
केन्द्रों के परस्पर वैमनस्य
की क्षणिक सहमति पर डगमगाता है
जो समस्त पीली तेज़ी के गाढ़े निचोड़ को
आँख की पुतली बनाता है
जो ज़र्द हीरे की तरह
ज़्यादह उगलती आग है

कि सहसा काले तेंदुए के नेत्र
लाल होते जा रहे हैं
सूर्य की ढलती किरण के साथ
कि काले तेंदुए ने झपट कर
अचानक आँख का यह वार

6

अजब कुछ मस्तानापन है
हवा के घुँघरुओं में आज
तहबतह यह अँधेरी जो छनी जाती है
गुलों की घंटियाँ बजा रही हैं शाख़
कि बादलों की घाँघर उछाल कर
बरहना यह धूप निकली है
और सुबुह की नीली नाज़ुक जिल्द
लाज से लालागूँ हुई जाती है

7

तेरे कुचों के मेरु से मेरु तक
श्येन नेत्र नाचे हैं
सहमे कपोतों से
जो ग्रीवा तौल
तत्पर हैं उड़ने को

8

सदा मूर्ति कढ़ती है
बूँद बूँद जल कटता है
समय का रूप राग अनुरंग
अधर अधर भर रचता है

हर दिन कोई तिलोत्तम मुख
पहर पहर पक ढलता है
सुन्दरतम का रूपरास
नयन मुकुर में गलता है

9

हरा गहरा स्थिर पानी
और एक दिवाल किनारे
गीला कितना गीला प्रतिबिम्ब सिहरता
पानी में सर्दी के मारे

भीगे अवयव बिसुरे घावों के होंठ
हरी काई की पपड़ी
जिनसे रिसते बूँद कभी
हरे लसीले गन्धैले मटियारे

मुझे बैठना तो होगा ही
आज नहीं तो कुछ दिन में
लेकर टेक इसी रोगी की
इसी भीत के गीले पार्श्व सहारे
मेरे पंकिल नयन बहेंगे
सड़ती बूँदों में आँसू अनियारे

मेरी सूखी गोदी में
क्षणिक तुष्टि पा

प्राण तजेगा
कोई पञ्जर कुत्ता

10

साँझ के कोने दबा दो
सावधानी से
खींच कर अच्छी तरह
अब फ़र्श के नीचे
इसे जाड़ों भरी बरसात में
न कोई साँस रह जाये
कि जिससे बाहरी
कोई रात घुस आये
और बेगाना कर जाये
साँसों की गफ़लत में
गरमाये अपनी रात
और किसी दम
आँखें खुलें तो
अण्डे का छिलका आफ़ताब
क्षितिज पर लुढ़का हुआ हो
और नन्हीं सुबुह चूजे सरीखी
दुधमुँहीं घास पर
चाटती शबनम

11

नरम इस पथ पर चलो तुम छाँह से
इस छरहरे व्योम के नीचे
बुझ रही है दूब पर मन्दाभिरामा
इसे सूँघों यह शरत् की शाम है
यह शाम पी लो, शाम की चित्रित सुरा
कमलदल बन्द होते हैं
किञ्जल्कबिखरा है अभी
सुनहरी शाम मुँदती जा रही है
नील पाटल रात में

अँधेरे झुरमुटों के बीच
यह काल का टुकड़ा बसा है
मगर इस दम क्षितिज के दायरे के बीच
तुम सुरक्षित हो
चहे मारीच सा वह चाँद कितना पास आये

12

काले चीतों सी तेरी आँखें हैं
पीले शेरों सी तेरी आँखें हैं

काले शेर ने छलाँग मार
दबोचा है श्याम मृग को
काले मिरगे सी तेरी आँखें हैं

पीले चीते की सुर्ख़ जुबाँ ने
छेड़ा जल की गहराई को
नीले सरोवर सी तेरी आँखें हैं

काले चीते ने तोड़ दिया
रोशनी से छाया का संक्रम
पीले शेर ने जोड़ दिया
परछाईं से प्रकाश का भ्रम

चितकबरे गुलदार
छद्मभूषित छलदार
छाया के रश्मिजटित
आलोक के झाँईंदार
रूप के संवलन हैं
संश्लेष मेरी तृष्णा के

आँखों के अहेरी
मृगया की बेला
मैं अक्स पकड़ता हूँ
जल की तरलाई में

13

चिड़ियों के बोल
पानी का बहाव
हवा की लचक
बादलों का फुलाव
ज़मीं की प्यास
घास का नाज

और अनगिन स्वरविलास
धरती की आँतों में लुप्त
जलकुंडों के दरियाओं के
ग़ारों के खोहों के कन्दराओं के
बादलों में बर्फ़ आबशारों के
सागर में ग़र्क पहाड़ों के
पर्वतों में दबी भापों के
भूगर्भ में तरल खानों के
बर्फ़िस्तानों के गर्म मैदानों के
बरसात की दौड़
धूप की दुल्की
चाँदनी की चाल
बेहिसाब लज़्ज़त
बेख़बर ख़्वाब

14

तुम कहो
मैं कल्पना के तन्तु सुलझाता रहूँ
विलुलित हँसी के तार उलझाता रहूँ
[जिनसे सुनहली चाँदनी है]

मैं तुम्हारी उक्ति का धीर विश्लेषक
जान लूँ पहचान लूँ

रेणु में झंकार पग की
प्रतिरूप में ही तृप्ति दृग की
घुमड़ घिर आयी लटों का जिज्ञासु
मैं समझ लूँ जान लूँ

कालिमा का रूप
जगमगाया तारकों से
मनोमय तत्त्वाकार
का स्तरित विस्तार
जिसकी अभावक अंक में
तिलमिलाती नन्हीं शिखा
दर्द से लथपथ पुकार

15

करों के अवरोध पर
कुचों का गम्भीर ज्वार
पलक में पुलिन की प्यास
रेणु में पदचाप की झंकार

सन्निहित कर ले कदाचित्
अन्त पल का अतुल विस्फार
इन द्रुतगामी क्षणों का नाद
यहाँ से मृत्यु के उस पार

इतना मरण के पास
प्रौढ़ किन्नर कंठ का
झुरमुटों में हास

तीर भर अन्तःकरण
शतकोण की शूलज किरण
आयी हमारे पास

सुनसान तममय नामरूप
प्रतिरूप है जिसकी किरण
जिसकी प्रतिध्वनि हास

जिस अंकिचन कोष में
आत्मा का वास
मरण के दूरतम के पास

16
निर्मल गगन को देखकर
फिर आज बादल याद आया
शान्त निश्चल पत्तियों में
सुकुमार हरकत
पंछियों की
दूर वर्षों की तन्हाई में
एक नरम साया
याद का

शून्य स्तम्भित क्षणों पर
भुए सी बैठती
कोई छोटी बात

मानमय गम्भीर अधरों पर
अचानक बेगुमाँ
मुस्कान की पहचान

मुख कुन्तलों से कान्त श्यामल
फिर आज बादल याद आया

17
खिले फूल सा क्यों अनाम
मैं नहीं वायु दुलराऊँ

अनुरञ्जित कर लूँ थोड़ा सा
स्थान काल का कोना
स्मृति के समयापर कूलों पर
सौरभ सार बसाऊँ

विश्वस्त्रोत से नवरस लेकर
उनको घना बनाऊँ
हल्के पतले स्कन्धों को
जो तत्त्वों में निष्क्रम फैले हैं
अपनी लघु भवता में भर कर
सुन्दर प्रान खिलाऊँ

मैं मनुष्य की नामबद्ध
काया से कितना पीड़ित हूँ
यदि पुष्प नहीं तो भ्रमर सही
अनजान प्यार का भागी तो
पर नामदोष बन्दी अभियुक्त
अच्छा है मर जाऊँ

बालकृष्ण राव

(कुँवरनारायण)

श्री कुँवरनारायण की कविता उस अधुनातन भारतीय व्यक्तित्व की प्रतिच्छवि है जो मूलत: भारतीय होते हुए भी अध्ययन, चिन्तन और सम्भवत: उससे अधिक स्थूल सम्पर्कों के प्रभाव से बहुत कुछ देशेतर गुणों, रुचियों और प्रवृत्तियों से भी समन्वित हो गया है। यह आज के जीवन और विगत युगों के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण अन्तर है कि आज हम किसी एक देश या भाषा की सीमाओं के अन्दर नहीं रहते। या तो हम स्वयं इसकी चेष्टा करते हैं कि अपनी सीमाओं को लाँघ कर बाहर जाएँ, या बाहर के प्रभाव हमारी सीमाओं को पाटकर अपने आप हमारे पास आते हैं और हमें आक्रांत कर लेते हैं।

सहसा ऐसा लग सकता है कि श्री कुँवरनारायण पर न केवल अँग्रेजी कविता का गहरा प्रभाव पड़ा, बल्कि उनकी काव्य प्रेरणा ही सीधे अँग्रेजी साहित्य से आई है। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह प्रभाव केवल प्रभाव ही है, उनके काव्य की मूल प्रेरणा भारतीय ही है। इसका प्रधान प्रमाण यह है कि उनके काव्य में विश्वास उत्पन्न करने वाली मौलिकता है। उनकी कविता का स्वर उनका अपना है, मात्र प्रतिध्वनि नहीं है।

श्री कुँवरनारायण का काव्य एक अधीत, परिष्कृत, गम्भीर मस्तिष्क और सहज संवेदनशील और भावप्रवण मन के पारस्परिक संघर्ष और समझौते की कहानी है। कवि ने पहाड़ियों की तरह अडिग लगने वाली बहुत सी पुरानी मान्यताओं को स्थायी मानने से इनकार किया क्योंकि उसके कानों में भूगर्भ में होती हुई वह गड़गड़ाहट स्पष्ट सुनाई पड़ रही थी, जो उसे आसन्न भूकम्प की सूचना सी जान पड़ी। यह गड़गड़ाहट उसने पश्चिम के वैज्ञानिकों द्वारा निर्मित और परिचालित यन्त्रों की सहायता से सुन ली थी, पर महत्व इसका नहीं है कि उसके कानों में यह ध्वनि किस यन्त्र की सहायता से पहुँची, बल्कि इसका है कि वह ध्वनि उसे कहाँ से आती हुई जान पड़ी। कवि ने पश्चिम से जो उन्मेष पाया, वह पश्चिमी उन्मेष तो नहीं कहा जायेगा; क्योंकि आँखें तो उसकी ही खुलीं—और आँखें खोलकर उसने देखा अपने ही परिवेश को। फिर दूसरी बात यह भी है कि आज के युग में स्वदेश और विदेश, अपना और पराया, पूर्वीय और पश्चिमी—इन शब्दों का अर्थ पहले से बदल गया है। 'स्वदेशी' का अर्थ अब इतना बड़ा नहीं रहा कि उसमें 'साधु और ग्राह्य' भी सन्निहित हों; फलत: 'विदेशी' के माने 'असाधु' और 'त्याज्य' लगाना भी निरर्थक हो गया।

साथ ही इन शब्दों के अर्थ कुछ अधिक विस्तृत हो गये हैं। 'स्वदेश' शब्द को ही लीजिये। पूर्वजों की विराट् कल्पना तो 'स्वदेशोभुवनत्रयम्' को एक आदर्श के रूप में सामने रख सकती थी। पर उनकी गोचर भूमि भुवनत्रय तो क्या सारे पूर्व गोलार्द्ध को भी नहीं समेट सकती थी। उनका 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' एक सुन्दर स्वप्न बनकर रह गया था। आधुनिक विज्ञान ने अब तक पृथिवी के अतिरिक्त किसी और लोक से हमारा परिचय नहीं कराया है। पर पृथिवी से तो करा ही दिया है; इतना परिचय कि हम प्रतिक्षण एक देश और एक सामाजिक परिवेश के दायरे में क़ैद रखे जाने के अधिकाधिक अनुपयुक्त होते जा रहे हैं। यदि हमने पश्चिम से कुछ लिया तो क्या और पूर्व से कुछ लिया तो क्या? हम केवल एक ही से अपना दाय माँग कर संतुष्ट क्यों हो जाएँ जब कि उत्तराधिकारी हम दोनों के ही हैं? यदि हमने विलायत का बना हुआ चश्मा लगा लिया तो उसकी वजह से हमारी नज़र तो विलायती नहीं हो जाती, न वे घर के दृश्य ही विलायती हो जाते हैं जिन्हें उस चश्मे की सहायता से हम अब अधिक स्पष्ट देख रहे हैं। श्री कुँवरनारायण का चश्मा विलायती है, पर उनके चश्मे को देखकर यह कहने और समझने लगना कि उनकी नज़र ही विलायत की देन है, उनके साथ तो अन्याय होगा ही, हमें भी एक सच्चे आधुनिक कृतित्व के आस्वादन में सर्वथा अक्षम बना देगा।

मैं इतने निश्चय के स्वर में ये बातें इस कारण कह रहा हूँ कि उनकी जिन रचनाओं को मैंने देखा है वे काफ़ी अभ्यस्त लेखनी द्वारा लिखी जान पड़ती हैं; उनका शब्द चयन, छन्द-विधान, चित्रांकन आदि सभी कुछ पर सावधानी और परिश्रम के प्रभाव हैं। लगता है कि जो शिल्पी अनेक शब्दों को छोड़कर इन विशिष्ट शब्दों को चुन सका जो अब उसकी रचना की रूप-रेखा बन गये हैं, वह अनेक रचनाओं में से थोड़ी सी ही पूरी करने और प्रकाश में लाने योग्य समझता होगा। इन रचनाओं के पीछे, जान पड़ता है, अनेक ऐसी रचनायें कवि की प्रयोगशाला में बिखरी पड़ी होंगी जिन पर सतर्कता से पाँव रखकर कुछ थोड़ी सी कृतियाँ ही ऊपर प्रकाश में आ सकी होंगी। इन कविताओं में 'सहज' कवित्व नहीं है। कठिनता से एक-आध पंक्ति ऐसी मिल जाती हैं जो कवि के मन से बरबस फूट निकली जान पड़ती है; अन्यथा सभी के पीछे प्रयास और प्रयोग की छाया दिखती है। लय कई कविताओं में बार बार टूटती है—असावधानी के कारण नहीं, अतिशय सावधानी के कारण।

इस प्रकार का 'सहज' कवित्व, जो प्रतिध्वनि मात्र कविताओं में हमें आसानी से मिलता है, श्री कुँवरनारायण में हमें नहीं मिलता। वे स्वयं हमें बड़ी ही निष्कपटता से बताते हैं—

ये पंक्तियाँ मेरे निकट आई नहीं,
मैं ही गया उनके निकट
उनको मनाने :

दूर, उच्छृंखल, अबाध्य इकाइयों को
पास लाने।

इन पंक्तियों के प्राय: सभी शब्द ध्यान देने योग्य हैं—कही हुई बात तो ध्यान देने योग्य है ही। आधुनिक जीवन की ही यह कमी है : आधुनिक कवि के पास कविता स्वत: कम ही आती है; कवि को ही उसकी खोज में जाना पड़ता है। हाँ, यह आवश्यक है कि खोज की प्रेरणा सच्ची हो और कविता को पाकर पहचानने की अन्वेषक के पास सहज क्षमता हो। यदि कुँवरनारायण जी कविता का साक्षात्कार अनायास ही नहीं कर पाते तो इसका यह अर्थ नहीं है कि खोजने में भी वे असमर्थ हैं।

पहला शब्द जिस पर हमें ध्यान देना है वह है 'दूर'। मैं समझता हूँ कि यह शब्द कुँवरनारायण जी की सामान्य मन:स्थिति की उस असाधारण अवस्था से, जिसमें कवि की सृजन प्रक्रिया आरम्भ होती है, भिन्नता ही नहीं ध्वनित करता इसका भी संकेत करता है कि कवि अपने दैनंदिन जीवन में अपने चारों ओर बिखरी हुई संभाव्य कविता के प्रति जागरूक होते हुए भी उसे अपने बहुत निकट नहीं पाता; लगता है कि समक्ष यथार्थ के पीछे अथवा उससे दूर कहीं छिपी हुई वह कविता रक्खी है जिसे खोजकर लाना उसका काम है। 'नयी कविता' के पहले अंक में प्रकाशित 'जाड़ों की एक दोपहर' को देखिये :

दूर का अविरोध फैला क्षेत्र; बेतरतीब
वृक्षों की क्षितिज की मेड़ पर कुछ भीड़।
चुहलते पक्षियों की तोतली कविता,
पवन की लोरियों में ऊँघती सरिता।
बरसती दृष्टि के उस छोर तक अविराम
जाड़ों की उजागर गुनगुनी सी घाम....
रुको....प्रिय....
विश्रान्ति की इस अरौंदी छाया तले
भूल जायें कुछ क्षणों को हम हृदय के भार,
सभ्यता की परिष्कृति से दूर
आओ, हम बनें इस शान्ति के दो नये साक्षीदार।

पहली छ: पंक्तियों में जाड़ों की दोपहर का चित्र है, पर कवि रस लेकर, तल्लीन होकर चित्रांकन करता नहीं जान पड़ता क्योंकि वृक्षों, पक्षियों, क्षितिज, सरिता, भीड़ आदि शब्द केवल तूलिका के एक हल्के से स्पर्श से अधिक नहीं है। पट पर केवल थोड़े से रंगीन धब्बे डाल दिये गये हैं, इस विश्वास के साथ कि इतना करना ही सम्पूर्ण चित्र का आकार दर्शक के दृष्टि पट पर अंकित करा देने के लिये पर्याप्त है। यह इमेजिस्ट स्कूल की सी मितव्ययिता हमें कुँवरनारायण जी की अनेक रचनाओं में

मिलती है। इमेजिस्ट शैली में प्रयास अनिवार्य है; गढ़ना-छीलना, काटना-छाँटना इमेजिस्ट काव्य की सृजन प्रक्रिया है। भाषा की अस्वाभाविकता अन्त की चार-पाँच पंक्तियों के पीछे परिश्रम के प्रेतों की उपस्थिति की ओर इंगित करती है। 'विश्रान्ति की इस अरौंदी छाया तले' क्यों? जाड़ों की 'गुनगुनी सी घाम' में छाया तले बैठने की इच्छा क्यों? शायद इसलिये कि कवि 'घाम' की बात करते ही छाया का ध्यान कर बैठा, अथवा इसलिये कि विश्रान्ति के साथ छाया का परम्परागत सम्बन्ध उसका शिष्ट, अधीत मन भुला नहीं सका। प्रश्न यह है कि कविता की उपलब्धि कवि ने कहाँ की : दूर तक अविरोध फैले हुए क्षेत्र में या विश्रान्ति की अरौंदी छाया तले? सम्भवत: कवि इसके उत्तर में केवल इतना ही कह सकेगा कि उसे कविता के साक्षात्कार के लिये 'सभ्यता की परिष्कृति से दूर' कहीं जाना है।

मेरी दृष्टि में कुँवरनारायण जी अभी 'सभ्यता की परिष्कृति' में छिपकर बैठी हुई कविता को नहीं पहचानते; पर क्योंकि उनके कवि-मन की ऋजुता उन्हें यह नहीं मान लेने देती कि उसे बिना पाये हुए ही प्राप्त मान लें इसलिये विवश, उसे खोजने के लिए अपनी परिचित भूमि को छोड़कर उन्हें दूर जाना ही पड़ता है। 'बरसती दृष्टि के उस छोर तक' देखकर भी जब समाधान न हो सका, मन में अदम्य वेग से निरन्तर उठते हुए प्रश्नों का उत्तर न मिल सका तब हार कर कुछ क्षणों के लिये हृदय के भार को भुलाने के लिये विश्रान्ति की अरौंदी छाया का आश्रय लेना पड़ा—सन्तोष यह था कि सभ्यता की परिष्कृति वहाँ से दूर छूट गई थी।

पलायन की यह तत्परता कुंवरनारायण जी की कविता के विकास की एक ऐसी मंजिल है जिसे अनेक कवि पार करने के उपरान्त ही सच्चा, सबल आधुनिक स्वर पा सके। यदि अभी कुँवरनारायण जी उस मंज़िल से गुज़रते नज़र आ रहे हैं तो न अचरज की बात है न चिन्ता की—हाँ, शर्त यह है कि इतनी ऋजुता अक्षुण्ण रह सके कि भटकने को ही प्रगति समझने की भूल न हो जाय। सभ्यता की परिष्कृति से दूर भागने की इच्छा इस अर्थ में शक्तिप्रद हो सकती है कि कवि यह समझ जाय कि परिष्कृति का वह कौन सा कृत्रिम और अभद्र पक्ष है जहाँ उसे कविता नहीं मिलेगी; क्योंकि जब तक यह समझ में नहीं आ जाता तब तक उसकी दृष्टि परिष्कृति को ही अभद्र और असत्व के रूप में देखती रहेगी, उसका मन परिष्कृति की परिधि से बाहर जाने के लिये उतावला होता रहेगा। सभ्यता की परिष्कृति अपने आप में ही हेय अथवा त्याज्य नहीं है, आवश्यकता इस बात की है कि हम उसे अपने व्यक्तित्व की विकास-तृषा के शमनार्थ जीवन धारा के रूप में स्वीकार कर सकें।

आज की कविता ने किसी भी पुराने आधार और किसी भी पुरानी मान्यता को आँख मूँदकर स्वीकार नहीं किया। उसने पहली बार सम्पूर्ण जगत और जीवन को अपनी गोचर भूमि माना और स्वतंत्र होकर नये सिरे से, नये ज्ञान-विज्ञान-दर्शन के प्रकाश में सभी पुरानी मान्यताओं का पुनर्परीक्षण किया। फलत: उनमें से कुछ उसे स्वीकार करने योग्य जान पड़ी, कुछ नहीं—जो उसे त्याज्य जान पड़ीं वे पुरानी होने के

कारण नहीं, निर्जीव और निरर्थक होने के कारण; जो स्वीकार करने योग्य जान पड़ीं वे नवीन होने के नाते नहीं, सजीव और सार्थक होने के कारण। इस व्यापक परीक्षण के युग में यह स्वाभाविक और सर्वथा अनिवार्य है कि नये मानदण्ड और नयी परीक्षण विधि पर इतना अधिक बल दिया जाय कि वे मानदण्ड और वह परीक्षण विधि ही परीक्ष्य-वस्तु जान पड़ने लगें। वास्तव में वे परीक्ष्य-वस्तु नहीं है—परीक्ष्य-वस्तु जीवन और जगत ही है—पर इस समय इस प्रकार का भ्रम हो जाना अचरज की बात नहीं है। यही कारण है कि हमें आधुनिक कविता का आधुनिक बाना पहले आकर्षित करता है, उसकी काव्यात्मकता बाद में। हाँ, उसका बाना देखकर यह समझना कि अब और कुछ देखना शेष नहीं है एक ऐसी भूल है जो बाने की नवीनता प्राय: हमसे कराती रहती है।

श्री कुँवरनारायण ने नये प्रयोग किये हैं। उन्होंने नयी लय, नयी भाषा अपनायी है, बनाई है; नये बिम्ब-निर्माण का उद्योग किया है; पुराने शब्दों के नये और अप्रत्याशित प्रयोग किये हैं। पर जिस प्रकार उन्होंने जगत और जीवन के प्रति एक निर्लिप्त और तटस्थ विचारक-परीक्षक की दृष्टि रखी है और कवि के दायित्व-भार की गुरुता का बोध उनके कथ्य को गम्भीर और भारी बना देता है उसी प्रकार भाषा-शैली के प्रति भी उनकी यही गंभीरता और उद्देश्यपरकता उनकी प्रत्येक पंक्ति में स्पष्ट झलकती है। उन्होंने यदि चलते हुए रास्ते को छोड़कर इधर उधर पाँच रखे हैं तो चापल्य के कारण नहीं, न अपनी ओर विस्मित आँखें आकृष्ट करने की इच्छा से। यदि उन्होंने ऐसा किया है—और किया तो है ही—तो वह अत्यन्त तटस्थ भाव से विचार करने के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचने के बाद कि 'अरौंदी छाया तले' पहुँचने के लिए 'अरौंदी' जमीन पर होकर जाना ही पड़ेगा। यह पूछना व्यर्थ है कि उनके कथ्य की नूतनता ही उनके शिल्प के नयेपन की जननी है या शिल्प का नयापन कथ्य को अनूठे बाने में सजा-सँवार कर विलक्षणता और आकर्षण प्रदान करने की प्रक्रिया का नाम है, क्योंकि कविता में कथ्य और शिल्प जुड़वाँ भाइयों के समान हैं, पिता-पुत्र के समान नहीं। निश्चय ही यदि श्री कुँवरनारायण की कविताएँ किन्हीं पुराने, प्रचलित छन्दों में और पुरानी शैली में ढाल दी जाएँ तो सम्भवत: उन्हें पाठक अधिक आसानी से पद्य कृतियाँ मानने के लिये तैयार हो जायेंगे—पर वे कविताएँ न रहेंगी, मात्र पद्य कृतियाँ होकर रह जाएँगी। इस आकार में आप भले ही उनमें से कई रचनाओं को पद्य की अपेक्षा गद्य के निकटतर पायें, किंतु कविता की अपेक्षा अन्य किसी प्रकार की साहित्य-सृष्टि के निकटतर नहीं पायेंगे।

श्री कुँवरनारायण की कविता कई बार इतनी उद्वेगशून्य और गद्यकल्प हो जाती है कि हमें अपने आपसे यह पूछना पड़ता है कि क्या यह सचमुच कविता ही है, कविता की तरह छपा हुआ गद्य तो नहीं है? पर तुरन्त ही, एक बार रचना पर फिर से दृष्टि डालते ही, हमें उत्तर मिल जाता है, ''नहीं, यह गद्य तो हो ही नहीं सकता। यदि कविता नहीं है तो कुछ भी नहीं है।'' उदाहरणार्थ 'दर्पण' शीर्षक रचना देखिये :

वस्तु का दर्पण उधर सुनसान,
जो अपनों बिना वीरान,
इधर धूसर बुद्धि जो अति
ज़िन्दगी के प्रति
उठाती स्वप्न की प्रतिध्वनि :
कुछ अवनि के अंक से आश्वस्त,
कुछ ऊँचाइयों से पस्त,
दृष्टियों में जन्म लेता प्यार :
दर्पण की सतह पर तैर आये
जिस तरह कोई निजीपन।

क्या आप इसे गद्य कह सकते हैं? यदि यह कुछ है तो कविता है, नहीं है तो कुछ भी नहीं, पर यदि कविता है भी तो उन थोड़े से लोगों के लिये जिनकी "धूसर बुद्धि ज़िन्दगी के प्रति स्वप्न की प्रतिध्वनि उठाती है"—अधिकांश व्यक्तियों के लिये इस अतिशय अस्पष्ट कविता का आशय दर्पण की सतह पर तैर आने में विवश है।

अस्पष्टता, दुरूहता, दीक्षागम्यता के आरोप नयी कविता पर लगाये जाते हैं और कुँवरनारायण की कविता के विरुद्ध भी लगाये जा सकते हैं। आरोप सर्वथा अनुचित भी नहीं है और न इस पर आश्चर्य करना चाहिये कि छायावाद रहस्यवाद के कुहासे में जिस भावक वर्ग की दृष्टि निराकार को साकार मान सकी वह नयी कविता में नयेपन के सिवा कुछ क्यों नहीं देख पाती। दोष दोनों का है। अँधेरे से रोशनी में आने पर दृष्टि को अभ्यस्त होने में कुछ देर लगती ही है। यह भी सत्य है कि नयी कविता के नाम पर इतनी बेमतलब और बेसिर पैर की चीजें धड़ाधड़ सामने आती रही हैं कि देखने वाला इतना चकित हो गया है कि वह निश्चयपूर्वक अपने आप से भी यह कहने से हिचकता है कि उसे कुछ मिला या नहीं। कुछ दिनों इस प्रकार की अव्यवस्थित अवस्था रहेगी ही; इससे इस ओर या उस ओर कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। यदि नक़्क़ालों की संख्या बहुत हो गयी है और बराबर बढ़ती जा रही है तो क्या इससे दो ऐसी बातें साबित नहीं होतीं जिनसे आशा और विश्वास की पुष्टि हो?—एक तो यह कि जिस चीज़ के इतने नक़्काल पैदा हो रहे हैं उसकी जड़ जमती जा रही है (नहीं तो इतनों को नकल करने की इच्छा क्यों होती?) और दूसरी यह कि जिस चीज के नक्काल पैदा हो जाते हैं उसके पारखी भी साथ-साथ पैदा होते ही हैं।

पर मैं दुरूहता और अस्पष्टता की बात कह रहा था। श्री कुँवरनारायण की कविता में भी वह दोष मिलेगा। एक उदाहरण दूँगा। कविता का शीर्षक है 'प्यार की अतृप्त' ....

चाँदनी-सित रात चितकबरी,
डसे भूखंड की गंजी सतह पर

खोह-से खँडहर
कपालों में धँसा ज्यों रेंगता मनहूस अँधियारा।
अचानक चौंक कर बुत छाँव में
दो पंख फड़के,
ज्यों किसी स्मृति ने कँगूरों पर खड़े हो
दूर की मेहराब में घुसती हुई
प्रेतात्माओं को पुकारा :

''प्यार की अतृप्त, खंडित आत्मा,
आश्वस्त हो....
वह दर्द जीवित है तुम्हारा।''

कविता का अर्थ अस्पष्ट है, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि अर्थ से आशय प्रकट नहीं होगा। इसमें एक के बाद एक रंगीन धब्बा पट पर दिखाया जाता है; तेज़ी से, क्षण भर के लिये आगे रहने दिया जा कर हटा दिया जाता है, पर पूरा चित्र देखने का सा अनुभव प्राय: हो ही जाता है। किसके पंख फड़के? प्रेतात्माएँ कौन थीं? मेहराब में क्यों घुस रही थीं? इन प्रश्नों के उत्तर नहीं हैं—हो भी नहीं सकते। यदि कविता पढ़ कर यह प्रश्न मन में उठें तो समझ लीजिये कि यह कविता आपके लिये नहीं है, क्योंकि इन बिम्बों से एक वातावरण प्रस्तुत किया जा रहा है, ऐसा वातावरण जिसमें कवि का आशय स्वत: प्रकट हो जाना चाहिये, भावक के मन पर प्रभाव करने के लिये प्रयुक्त शब्द समूह को अर्थ की अपेक्षा नहीं होनी चाहिये।

सौभाग्य से श्री कुँवरनारायण की सभी कविताओं के लिये यह नहीं जा सकता। जो स्पष्ट हैं उनमें आपको सुन्दर चित्रांकन मिलेगा—सुन्दर ही नहीं, सजीव भी। कथ्य जहाँ हल्का है वहाँ कभी भारी होने का दुराग्रह अथवा अभिनय करता नहीं मिलेगा। इनकी कविता अपने भावक वर्ग से इसकी माँग करती है कि वे बिना किसी पूर्वग्रह के उसे स्वीकार करें और यह न भूलें कि उसकी प्रत्येक पंक्ति, उसका प्रत्येक शब्दचित्र अपने आप में एक स्वतन्त्र इकाई है। इस प्रकार ग्रहण करके ही वे यह पायेंगे कि उनकी जो कृति कविता नहीं बन पाई वह भी एक कवि की ही कृति है।

प्रश्नाहत

तारों की अंध गलियों में
गूँजता हुआ उद्दंड उपहास....
वह मेरा प्रश्न है :

विशाल आडम्बर,

अपनी चुभती दृष्टि की गर्म खोज में मैंने
प्रश्नाहत जिस विराट हिम पुरुष को
गलते हुए देखा....
क्या वह तेरा उत्तर था?

प्रश्न का विस्तार

नील पारावार,
तुम खड़े हो आज भी अपने हृदय को खोल,
अपने मौन अपनी व्याप्ति में
लाखों युगों को घोल :
ठीक कहते हो बड़ी है आत्मा....
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।

हम बिठाते ही रहे देवालयों में ईश्वरों को
हम उठाते ही रहे अंतःकरण में दूर के अश्रुत स्वरों को,
हम खिलाते ही रहे तन पंक में इन्दीवरों को,
हम बनाते ही रहे मंदिर घरों को
वह जिसे कुचला किया इतिहास
अपनी चाल से कर चूर,

वह जिसे पाता रहा विश्वास
लेकिन ज़िन्दगी से दूर,
ऊँची धार्मिक ईमारतों में तुम चुने पत्थर नहीं हो,
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।

हर अलौकिक रूप पृथ्वी बिगड़ता ही रहा,
एक धब्बा हर उजाले पर सदा पड़ता रहा,
एक काँटा देह में सन्देह बन गड़ता रहा,
आदमी हर दिव्यता के बाद भी सड़ता रहा,

और बारम्बार पाया
शून्य नीलाकाश

तुम ईश्वर नहीं हो,
तुम हमारे प्रश्न का विस्तार पर उत्तर नहीं हो।

क्या यही हूँ मैं

क्या यही हूँ मैं
अँधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा?
चेतना के पूर्वसम्बन्धित किसी उद्देश को
आगत किसी सम्भावना से बाँधता सा?

स्याह अम्बर में छिपी आलोक की गंगा कहीं
हर रात तारों से टपकती अनवरत,
नींद के परिवेश में भी सजग रहती
चेतना की, स्वप्न बन, कोइ परत :

कौन तमग्राही कठिन बेहोशियों में
भोर का सन्देश भर जाता?
कौन मिट्टी का अँधेरा गुदगुदा कर
फूल के दीपक जलाता?

क्या यही हूँ मैं
उजागर इस क्षितिज से उस क्षितिज तक जागता सा?
एक क्षण की सिद्ध, प्रामाणिक, परिष्कृत चेतना से
युग युगों को माँजता सा?

विकल क्षण, जन्म को आतुर

यह विकल क्षण, जन्म को आतुर,
उचित तम खोजता
रक्ताभ कोरक के विनश्वर गर्भ में;
अनुकूल है ऋतु का खुला अभिप्राय :

कर्म रत हो,
स्वप्न मत देखो,

कहीं उन्माद रह जाए न भौंरों का
निरर्थक गीत उद्दीपन।

इस गली के छोर पर बुनियाद डालो :
कोठरी में दीप की लौ
सेंकती ठंडा अँधेरा,
इन्हीं पर्तों में कहीं सोया हुआ है
रूप का गोरा सबेरा :

तुम किसी के भाग्य से आक्रान्त हो :
दे दो भविष्यत् जो कहीं तुम में छिपा है....
अंग उत्तेजित समर्पित
सुलभ है इस द्रव्य का
प्रज्वलित आहुति द्वार....

निजी वसन्त : अंधकार

प्रिय इन आँखों के नीले एकान्त में
प्यार के अनकहे भावों को उमगने दो,
कुछ भी न बोलें हम,
बिल्कुल न डोलें हम,
केवल दो जूही से
जीवन प्रदेश में
फूलें और महकें हम :
अपने उछाह के निजी बसन्त में
निर्निमेष एक हर्ष
पुष्पित उद्गारों का
नयनों में नाच उठे
भूलें और बहकें हम।

जब यह छोटा सा उत्सव बुझ जायेगा,
साथ हम समय की बहती हुई धारा में

मिलकर बह जायेंगे :
किन्हीं अजनबी विदाओं कें पतझर में
सपनों के ढहते अटम्बर से टूट कर
इसी अंधकार संग जीवन सीमाओं से
दूर ढुलक जाएँगे :

कारक सुन्दरता के मूल बीज तेजस्वी
मिट्टी की मोदमयी गोद बीच ओजस्वी
युगों से यही एक परिचय है जीवन का
प्राणों से प्राणों तक
प्रतिक्षण जो आया है

शिशु मनोरथ के घरौंदे

कभी बचपन में सुनी थी
शाहज़ादे की कहानी
याद आता है....
समुन्दर पार कैसे दानवी
माया नगर में वह विचारा
भूल जाता है,
भटकता, खोजता, पर अंत में
राजी खुशी घर
लौट आता है।

आज पर जब एक दानव
शिशु मनोरथ के घरौंदे
रौंद जाता है,
न जाने क्यों सदा को एक नाता
इस व्यथा का उस कथा से
टूट जाता है,
और मुझको कहीं समयातीत

हो जाना
अधिक भाता है!

ओ धुँधले दैवी अंगारे
पृथ्वी आकर्षित करती है
अपनी जड़ताओं को,
पर आकाश प्रकाश न मुझको मरने देते
सरल मौत कुत्ते की!
उठते प्राण ऊब अकुला कर,
कीचड़ के आग्रह से चिढ़ कर,
हो न चेतना मैली....
छूने पंखुड़ियों से कोमल
रश्मि तितलियाँ :
किरण मयी,
मेरी मुट्ठी तारों से भर दे :

सरक रही भुरभुरी रेत निर्लिप्त समय की,
दुर्बल मोह जगह दे,
ढीला करो कसाव, और ढीला बन्धन को,
समय झरे ज्यों निर्झर झर झर,
हरे भरे बसंत के पादप अवढर पतझर....
देह धरातल या अम्बर तल,
जूझ शक्ति कण,
यही अमर प्रण,
ओ मेरे अन्तर की ज्वाला,
ढकी राख से
तेजमयी,
मत बुझ, कुछ वर दे....

आ मैं तेरा आँच कलेवर
स्वच्छ माँज दूँ,
मेरी त्वचा झुलस जाने दे,

तुझे माँज दूँ, ओ धुँधले दैवी अंगारे,
एक धधकता चुम्बन छवि आरक्त,
कहीं जीवन पर प्रलयी
अंकित कर दे।

एक ही अनुरक्ति तक

एक ही अनुरक्ति तक संसार जीता है :
वह समर्पण है समझ का जिन्दगी का
जो किसी विश्वास तक
स्वप्न को मरने नहीं देता।
किसी गन्तव्य तक
अस्तित्व को थकने नहीं देता
वही है अन्त जब विश्वास मर जाता
नहीं जब घोर माथा
घाव मन के मूँद पाती है।

संगमरमर के गड़े स्तम्भ
जो देते किसी नभ को सहारा
ढह गये....
परछाइयाँ झरती रहीं ज़िद्दी पनपती घास पर
जो सदा बढ़ कर छेंक लेती है
गिरे मीनार, क़ब्रिस्तान, खँडहर आदि....
जिसकी लहलहाती बाढ़ में
ऐश्वर्य कितने बह गए।

फिर भला कैसे न मानूँ वह वनस्पति ही अमर है।
जो सदा बसती रही पिछली दरारों में समय की
और जिसका दीर्घ आगत
पूर्ण रक्षित है हमारे गगन चुम्बी महल सपनों में....

....और हम इन्सान हैं वह
जिसे प्रतिपल एक दुनिया चाहिए।

पैतृक युद्ध

कौन कल तक बन सकेगा कवच मेरा?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना
इस महाजीवन सफ़र में अन्त तक कटिबद्ध :

सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा,
मुझे हर आघात सहना,
गर्भ निश्चल् मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध।

हर संध्या को

राह पर बँधे क़दम
चलते लाखों संकेत :
हर पड़ाव मंज़िल,
हर गहराइ कहीं रेत।
हर सन्ध्या को हिसाब लेता है अंधकार....
कितने शव बाक़ी हैं?
कितने शव रहे खेत?

जाड़ों की एक सुबह

रात के कम्बल में
दुबकी उजियाली ने
धीरे से मुँह खोला,
नीड़ों में कुलबुलकर
अलसाया अलसाया
पहला पंछी बोला।

दूर कहीं चीख़ उठा
सीले स्वर से इंजन
भर्राता, खाँस खूँस
फिर छूटा कहर कहर
कड़ुवी आवाज़ों से

ख़ामोशी चलनी कर
सिसकी पर सिसकी भर
गई ट्रेन क्षितिज पार :

क्रमश: ध्वनि डूब चली,
चुप्पी ने झुँझला कर
मानो फिर करवट ली
ओढ़ लिया ऊपर तक
खींच सन्नाटे को,
धीरे से उढ़का कर
निद्रा के खुले द्वार।

बह निकली तेज़ हवा
पेड़ों से सर सर सर,
काँप रहे ठिठुरे से
पत्ते थर थर थर थर,
शबनम से भीगे तन
सुमन खड़े सिहर रहे,
चितकबरी नागिन सी
भाग रही शीत रात,

लुक छिप कर आशंकित
लहराती पौधों में
बिछलन सी चमकदार,
छोड़ गई कोहरे की
केंचुल अपने पीछे,
डसती ठंडी बयार :

तालों के समतल तल
लहरों से चौंक गये,
सपनों की भीड़ छँटी;

निद्रालस पलकों से
मँडराते चेहरों की
एकाकी रात हटी;
धीमे हलकोरों में
नीम की टहनियों का
निर्झर स्वर मर्मर कर
ढरता है वृक्षों से
प्राणों में हर हर भर,
शिशुवत तन मन दुलार :

फूलों के गुच्छों से
मेघ खंड रंग भरे,
झुक आए मख़मल के
खेतों पर रुक ठहरे,
पहिनाते धरती को
फुलझड़ियों के गजरे;

प्राची के सोतों से
मीठी गरमाहट के
फ़ौव्वारे फूट रहे,
धूप के गुलाबी रँग
पेड़ों की गीली
हरियाली पर टूट रहे,
चाँद कट पतंग सा
दूर उस झुरमुट के
पीछे गिरता जाता....
किलकारी भर भर खग
दौड़ दौड़ अम्बर में
किरण डोर लूट रहे :

मैला तम चीर फाड़
स्वर्ण ज्योति मचल रही,

डाह भरी रजनी के
आभूषण कुचल रही,
फेंक रही इधर उधर
लत्ते सा अंधकार!

मुँह छिपाती साँझ

झुरमुटों में मुँह छिपाती साँझ :
ओज के टूटे हुए रेशे
पवन को छानते
निर्मूल लहराते,
रक्त से भीगी शिराएँ,
चू रहा दिल में समय का नीर
करता रंग फीका,
प्यार के जुल्मी थपेड़े
पूर्व परिचय खींच
मन झकझोरते
कहते चाह के अपवाक्य।
एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत बगुले
व्योम पर फिंक कर खिले,
फिर खो गये,
मान लूँ यदि
नील अम्बर नखत आभूषण किसी का,
नौलखे अवतंस के ये प्राण मुक्ता श्वेत,
बढ़ते लक्ष्य तक शरवेग
गूँथे तन्तु, तिनकों, वायु के समवेत,
पवन के हल्के थपेड़े
विरस पत्तों बीच
स्मृति हलकोरते....
सहते आह के चुप वाक्य।
तरुवरों में छिप सिसकती साँझ :

एक मुट्ठी प्राण फिंक कर खिले,
खिल कर खो गए।

तुम नहीं

नारकीय देह के ओ कमनीय स्वर्गपिंड,
जुगुनुओं की झिलमिलाती देह आभाओं के बीच
यदि तुम्हें मैं अद्वितीय कह भी दूँ
तो शायद वह मेरे चाह की छाया होगी,
तुम नहीं।

भौगोलिक दृष्टि से दुनिया दुनिया ही है,
फिर भी यदि तुम्हें मैं
एक नभ तारा कहूँ,
तो वह शायद मेरी दृष्टि की सृष्टि होगी,
तुम नहीं।

देखो, अजानी दिशाओं से
जो एक पुंजीभूत कल्पना आकर अँधेरे दूहों पर छा गई है
और घोर कालिमा में उज्ज्वल रेशे पिरो गई,
सम्भव है मेरे सपनों की सजीवता हो,
तुम नहीं।

यह जो एक अस्पष्ट सौन्दर्य
सहसा मेरी प्यासी आँखों में छलक आया,
ओठों से दूर,
सम्भव है रेत के किसी वीरान प्याले में
झूमती हुई मरीचिका हो,
तुम नहीं।

प्रकाश के रंगीन झरने
जो असम्भव ऊँचाइयों से गिर रहे हैं,

पत्थर को गुदगुदा कर,
एक तरल संगीत जगाकर,
कहीं दूर चले जायेंगे,
और तब मैं बन्द आँखों के अपार अंधकार में
झूलते हुए अपने ही चित्रों को नोच कर कहूँगा
कि सब कुछ
शायद मेरे उन्माद की छाया थी,
तुम नहीं।

मलयज की कविताएँ

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

आज जिस रूप में मलयज की कविताएँ हमें पढ़ने और देखने को मिलती हैं उसमें एक स्वस्थ और प्रौढ़ कवि की समस्त संभावनाएँ निहित हैं। साथ ही जिन दो चार सीमाओं का संकेत किया जायेगा वे सम्पूर्ण नयी कविता के परिप्रेक्ष्य में विवेचन के योग्य हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कवि का निजत्व इन सबके बावजूद भी अपना एक निश्चित मार्ग प्रशस्त कर लेता है। मलजय के पास जिस प्रकार का शिल्प और जिस प्रकार की अन्तर्वेदना है वह इन सीमाओं के भीतर भी नयी संभावनाओं की अपेक्षा रखती है और इन संभावनाओं के अंकुर निश्चय ही मलयज की कला-कृतियों में मौजूद हैं।

मलयज की रचनाओं में हमें लगता है कि कोई कवि अपनी आत्मवेदना को घात-प्रतिघात के साथ सहने के प्रयास में स्थिर हो गया है। उस आत्मवेदना से ओत-प्रोत उनकी दृष्टि जिस अनुभूति को प्रेषित करती है वह केवल चमत्कार और प्रयोग तक ही सीमित नहीं है। उसमें एक दृढ़ आस्था और विश्वास के साथ मर्मान्तक अनुभूति को भोगने की भी क्षमता है। मलयज के स्वरों में जीवन के यथार्थ को भोगने की यह अदम्य आकांक्षा बहुत ही महत्वपूर्ण है। शायद वह इस सहनशीलता को केवल भुक्तभोगी होकर समाप्त भी कर देना चाहते हैं।

दर्द की पैमाइश
नारंगी के सूखे छिलकों की मुस्कानों से
बहुत कर चुका
तलछट सी वास्तविकताओं के 'पाले'
बार बार छू चुका
अब मुझे फ़ुर्सत दो
कि मैं अपने को टटोलूँ
दूसरे के सर पर धरी गठरी
जो मैं हूँ
उसे मैं खोलूँ
कि मैं जिया नहीं हूँ
जिया गया हूँ।

जीने की यह प्रबल आकांक्षा और उससे सम्बद्ध यथार्थ के मर्यादित भावों को भोगने की आत्मनिष्ठ आस्था मलयज की अधिकांश कविताओं में एक विचित्र तड़प के साथ मिलती है। शायद जीवन के प्रति यह अटूट आस्था ही इस कवि को दृष्टि और बोध दोनों के अनउघरे आयामों को उद्‌घाटित करने की प्रेरणा भी देती है।

(इस प्रसंग में इसी स्तंभ में संकलित, मलयज की 'कुतुबनुमा' शीर्षक कविता दृष्टव्य है।)

यह कुतुबनुमा शीर्षक कविता मलयज के कवि-व्यक्तित्व की गहराई और व्यापकता दोनों का परिचय देती है साथ ही उनकी चेतना के विभिन्न स्तरों को भी पर्याप्त रूप से उद्‌घाटित करती है। जैसा कि स्पष्ट है, कलानुभूति की वस्तुपरकता (Aesthetic obsjectivity) के साथ कुतुबनुमा के प्रतीक और उसके माध्यम से संगत सत्यों की स्वीकृति ही मलयज के सौंदर्यबोध और उनके भावबोध को केवल सतही रूप न प्रदान करके उसे विवेकपूर्ण गहराई से भी सम्बद्ध कर देते हैं। चेतना के दुहरे स्तर और जीवन के यथार्थ एवं आत्मसाक्षात्कार के मर्मस्पर्शी क्षणों में कवि जो कुछ भी जी लेता है, जो कुछ भी देख लेता है वह उसका अपना सत्य बनकर व्यक्त होता है। मलयज की इस कविता में यह शक्ति है कि वह स्थिति का बोध कराने के साथ-साथ आन्तरिक मूल्यों के प्रति भी आग्रहशील हो। व्यक्ति-अस्तित्व के समर्थन में सतत प्रवाह और वेग के साथ इस कविता में विश्वास का स्वर भी व्यक्त हुआ है। 'कुतुबनुमा', 'सीपी से सागर उलीचा नहीं जाता', 'अनस्तित्व की चुनौती', 'आँवा' और 'नचिकेता' आदि कविताओं में दृष्टि के दोनों तत्व अर्थात् केन्द्रीयता और व्यापकता, गहराई और विस्तार समान रूप से मिलते हैं। प्राय: विस्तार और व्यापकता के लोभ में अनुभूति छिछली होकर व्यक्त होती है, किन्तु मलयज की कविताएँ अधिकांशत: उस दोष से बचती आई हैं। इसका कारण उनकी स्पष्ट और सजग भावगम्यता है।

मलयज की दृष्टि और उनकी अनुभूति ने अपनी आत्मवेदना को केवल वैयक्तिक कुण्ठा तक सीमित नहीं रखा है। वह इस कुण्ठा से उबर कर सर्वथा नये धरातलों का अन्वेषण भी करते हैं और कहीं कहीं उनकी यह आत्मवेदना उन स्थलों को भी छूती है जहाँ आत्म-अनुभूति से अभिभूत मनुष्य का लघु अस्तित्व भी एक सार्थक प्रश्नचिह्न बन कर उनकी समस्त संवेदनाओं का साक्षात्कार कर लेता है जो समानधर्मा न सही पर समान भुक्तभोगी के नाते एक होते हैं और एक साथ उन क्षणों से गुजरते हैं।

क्योंकि ओ प्रभु?
मैं ने तुम्हें
हर कहीं, हर मोड़ पर
असंख्य बौनों में
गलित अंग निर्बल ठिठुरते

अन्धों में लँगड़े लूलों में

पथ में रेंगते बिलखते देखा है,

× × ×

मुझे तो तुम ने प्रभु

केवल दर्द की दृष्टि दी।

मलयज की कविताओं को यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो उसमें निवेदन अधिक है आग्रह कम। अनुभूति के स्तर पर भी ऐसा लगता है कि प्रत्येक कविता की अधिकांश अनुभूति सत्य और ईमानदार होते हुए तथा दृष्टि की सजग निष्ठा का प्रतिनिधित्व करते हुए केवल निवेदन तक ही सीमित रह जाती है। निवेदन मैं इसलिये कहता हूँ क्योंकि ये कविताएँ वस्तुस्थिति और भाव संवेदना के साथ विचार स्थल पर विशेष आग्रह की अनिवार्यता नहीं पैदा करतीं वरन् केवल एक चिन्ता की हल्की रेख छोड़ जाती हैं जो इतनी झीनी और कोमल तन्तुओं की बिम्बात्मक परिणति होती है कि उसका कोई समवेत आघात मानस पर नहीं पड़ता। यह दोष तो नहीं है, किन्तु इससे कवि की ऐसी सजगता का परिचय अवश्य मिलता है जिसमें बहुत कुछ केवल एक सीमित क्षेत्र की संभावना के आगे नहीं बढ़ पाता। जीवन के तीव्र क्षणों की उपलब्धि में जो तड़प और विह्वलता की थिरकती और समस्त चेतना को झिंझोड़ देने वाली स्थिति होती है वह मलयज की कविताओं में या तो जान बूझकर बचाई जाती रही है या वे स्वयं इतने शालीन कवि हैं कि उस स्थिति को भी पीकर मौन हो जाना श्रेयस्कर समझते हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं यह मानता हूँ कि कला के क्षेत्र में यह शालीनता बहुत सीमाओं तक अच्छी नहीं होती।

जीवन के प्रति आस्था और उसकी सार्थक अनुभूति की यथार्थ निष्ठा में ही कवि की दर्द की दृष्टि को समस्त वेदनाओं का आभास और साक्षात्कार हो जाता है। यद्यपि प्रस्तुत कविताओं में मलयज पूर्ण सत्य के विभिन्न आयामों को सुगमता के साथ ग्रहण नहीं कर पाये हैं फिर भी अन्तर्दृष्टि में निहित वह जिज्ञासा कवि की कृतियों में मिलती है जो इस बात का परिचय देती है कि कवि ने एकांगी अनुभूतियों को नहीं वहन किया है वरन् उनके साक्षात्कार के समय उसने अपने व्यक्तित्व के अतिरिक्त भी बहुत कुछ देखा और सहन किया है। यद्यपि यह संवेद्रनशीलता कवि के सहज बोध से उपजी हुई दृष्टि है फिर भी यह स्पष्ट है कि जिस केन्द्रस्थित गहराई और व्यापकता का साक्षात्कार करने की जिज्ञासा कवि में है वह अपनी अन्तिम पकड़ के साथ पूर्ण रूप में अवतरित नहीं हो पाई है। यह आतुरता और विकलता 'रात की मुट्ठी खुल गई' और 'दिया बार लूँ' जैसी कविताओं में स्पष्ट दीख पड़ती हैं। इनमें केवल अकुलाइट है, सत्य की पकड़ जैसे आते आते छूट गई हैं।

यह मर्मपूर्ण संवेदनशीलता सार्थक तथ्य को उसी समय अपना पाती है जब उसमें विवेकपूर्ण अस्तित्व के साथ साथ भोगने का सामर्थ्य भी व्यक्त होता है। वस्तुतः जीवन

की अभिव्यक्ति भोगने में ही सार्थक रूप से अनुरंजित होती है। सुख को भोगने की क्षमता और दुख को भी भोगने की क्षमता कलाकार की कृति को सजीव बनाने के साथ साथ उसकी उपलब्धि को भी सार्थक बनाती है। मलयज का व्यक्तित्व इस दृष्टि से कई स्तरों पर जागरूक है। उनकी कविता में मानव विशिष्टता का अंकुर और यथार्थ के दायित्व का जागरूक गतिशील (Dynamic) तत्व अपनी मर्यादा के साथ व्यक्त होता है और अनेक संभावनाओं का संकेत दे जाता है। जहाँ एक ओर मलयज की कविताओं में हमें यह पंक्तियाँ मिलती हैं कि—

हमारा अस्तित्व
बाहर जल के
मछुये का जाल है
तप्त रेती पर रीता है
जल की सिकुड़न सा
या माथे की शिकन सा
हम पर जो बीता है
मछलियों की तड़पन है
नसों की ऐंठन है
टूटने का : जल से छूटने का
दर्द है
और
एक सौदा है :
वंचना की हाट में
छूँछी अवाज़ों, नीलामों
इश्तहारों से
बरबस समझौता है।

वहीं इन्हीं व्यंग्यों के बीच वह जीवन के सापेक्ष सत्य को भी स्वीकार करते हुए आगे की ओर देखते हुए प्रतीत होते हैं। आत्मवेदना की उपलब्धि सम्पूर्ण रूप के भावना को तभी परिष्कृत करती है जब उसमें जीवन की समग्रता पूर्ण सत्य के परिप्रेक्ष्य में व्यक्त होती है। यद्यपि मलयज की आत्मवेदना में सहनशक्ति और दृष्टि को ग्रहण करने की अपूर्व आस्था है फिर भी किन्हीं कारणों से वे अपनी आत्मवेदना को ही उपलब्धि के रूप में स्वीकार करने लगते हैं और ऐसा लगने लगता है जैसे कवि के पास सहन करने के अतिरिक्त कोई भी अंश शेष नहीं बचता। इसके कई कारण हो सकते हैं, किन्तु इसके लिये जो भी कारण वे प्रस्तुत करें, वर्तमान स्थिति में केवल सहनशक्ति ही उपलब्धि के रूप में ग्राह्य नहीं हो सकती। उसके साथ कुछ विवेकपूर्ण जीवन दर्शन का भी आभास मिलना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होगा तो नयी कविता का भाव

बोध भी स्वच्छन्दतावादी रोमैन्टिक कवियों की भाँति केवल दर्द की सीमाओं को एक बहुत बड़ी संज्ञा देकर समाप्त हो जायेगा।

कोई भी कलाकृति जब नयी संभावनाओं की ओर अग्रसर होती है तो यह मन:-स्थितियाँ कभी-कभी उसके पथ में बाधक तो होती हैं साथ ही वह कई और अपवादों को जन्म दे जाती हैं। इन अपवादों में से एक तत्व उस निश्चयात्मकता का है जो कालान्तर में रूढ़िवादिता से ओत-प्रोत होकर कहीं टूटने की स्थितियाँ भी पैदा करने लगता है। ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे नयी कविता के साथ भी एक विशिष्ट 'पैटर्न', 'टोन' और 'टेम्पर' स्थायित्व पाता जा रहा है। आज तक का जो अन्वेषण सत्य था वह कहीं ऐसी रूढ़ि के रूप में भी अवतरित हो रहा है जो विशिष्ट शब्दों के प्रति मोह और कुछ बिम्बों की पुनरावृत्ति करके केवल एक वातावरण पैदा कर देने से ही 'नये' की संज्ञा पा लेना चाहता है। यद्यपि किन्हीं अर्थों में यह प्रवृत्ति नयी कविता की प्रौढ़ता की परिचायक भी मानी जा सकती है; यही नहीं वह नयी कविता की शिल्पगत परिपक्वता को स्पष्टत: व्यक्त भी करती है फिर भी यह ऐसे संस्कार निर्मित करने की क्षमता भी रखती है जो समस्त चेतना को केवल एक सीमा तक ही बाँधकर छोड़ दें।

दूसरी ओर एक प्रवृत्ति ऐसे कवियों की है जो निश्चय ही इतनी संयमित शब्दावली का प्रयोग नहीं करते, इतनी अनुशासित भाव-भंगिमा का तथ्य वहन नहीं करते और न ही वह नपे-तुले, गढ़े-गढ़ाये बिम्बों-प्रतिबिम्बों पर ही बल देते हैं। इन कविताओं की अनगढ़ दशा और इनकी सर्वथा अनुशासनहीनता प्राय: खटकती है और यह सन्देह होने लगता है कि शायद प्रथम प्रवृत्ति के समक्ष यह दूसरी प्रवृत्ति अधिक प्रभावपूर्ण न हो, शायद उनका अर्थ-बोध और दृष्टि-बोध उतना मार्मिक भी न हो, किन्तु अभी वह स्थिति नहीं आ सकी है जहाँ नयी कविता किसी निश्चित पैटर्न में बँध जाने के नाते अपनी समस्त मार्मिक संवेदना को एक साँचे में ढालने का प्रयास कर सके। इन अनुशासनहीन, अनगढ़ बिम्बों, प्रतीकों और बेडौल कविताओं में बहुत कुछ अर्थ की दृष्टि से ऐसा है जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इन कविताओं में आग्रह कुछ अधिक सशक्त रूप से व्यक्त होता है इसीलिये आलोचकों का एक वर्ग प्राय: इनके इस अनगढ़पन से असंतुष्ट भी रहता है।

मलयज की कविताएँ इन दोनों प्रवृत्तियों की संधिरेखा पर स्थित हैं, या प्रथम प्रवृत्ति की ओर अधिक उन्मुख हैं। मलयज के भाव-बोध और उनकी शिल्प-सज्जा में व्यक्त आत्मवेदना, टोन और टेम्पर में इस बात की सजगता अधिक है कि वह क्या कहते हैं। कहीं-कहीं इस सजगता में अनुभूति की गहराई भी उनके हाथ से छूटती हुई प्रतीत होती है।

वह अपने मुक्त क्षणों और मुक्त संवेदनाओं में भी निर्भीक नहीं हो पाते। निश्चय ही मलयज की आत्मवेदना किसी क्रांतिकारी भावना की सृष्टि नहीं करती और न उससे वह सहज विद्रोह ही उपजता है जो कवि की अनुभूति में तो लगता है, किन्तु काव्य-सृष्टि में व्यक्त नहीं हो पाता। मलयज केवल सहनशक्ति के आधार पर, केवल

अपने ज़ब्त के बल पर अपवादों को पी जाना चाहते हैं, असंगतियों को पचा जाना चाहते हैं।

क्रान्ति द्रष्टा नहीं हैं हम
मनीषी भी नहीं हैं
मसीहा भी नहीं हैं
पर ओ भाई!
जब हम इसे और *[प्राणों की कोर तक]*
नहीं सह पाते हैं
तब कटिबद्ध हो नेत्र मूँद
लहरों में घुस जाते हैं :
सीपी से सागर उलीचा न जाता हो
डूब कर हम सागर में
ढूँढ़ कर सीपी से
मोती ही ले आते हैं।

'नहीं सह पाने की स्थिति' सीमा नहीं है। मलयज भी उसे सीमा नहीं मानते, किन्तु उनकी नयी संवेदनशील अनुभूति यत्र-तत्र नेत्र मूँद कर सहने की विवशता का ही बोध दे पाती है। वह प्रत्येक संघर्ष में झूम कर, थपेड़े खाकर फिर भी रीढ़ की हड्डी तान कर खड़े होने का आभास ढूँढ़ रही है। वस्तुत: यह उपलब्धि ही उस कविता को, अनुभूति को पूर्ण बना देने की क्षमता रखती है क्योंकि नेत्र मूँद कर जो कटिबद्धता उपजती है वह, यह तो सत्य है कि क्रान्ति की दृष्टि नहीं अपना पाती, किन्तु यह भी सत्य है कि सागर में बिना आँख खोले मोतियों को भी नहीं ग्रहण किया जा सकता।

(संकलन में आँवा शीर्षक कविता द्रष्टव्य है।)

परीक्षा के क्षण में मलयज ने किसी मसीहा या शहीद की भावना का आडम्बर नहीं अपनाया है। तपने में, लाश की तरह सुलगने में, उन्होंने अपने अनुभूत क्षण के दायित्व को अन्तिम परिणति तक निबाहने की चेष्टा की है। यह कोई कुण्ठा या मतवाद नहीं है। यह भोग्य और भोगने वाले के साक्षात्कार में साक्षी के समान वह नियति है जिसके प्रति जूझते टूटते हुए भी मनुष्य अपवाद और आतंक को अर्थों, संभावनाओं और आकांक्षाओं के साथ प्रयुक्त करता है। यह साक्षी और यह निश्चय ही मलयज की कविताओं की निहित आत्मा है।

प्राय: सभी कविताओं में मलयज के प्रतीक या विम्ब बड़े सजीव स्पष्ट और संवेदनशील अनुबन्धों का परिचय देते हैं। बिम्बों का सम्पूर्ण अनुभव उनकी विशेषता है। यही कारण है कि चाहे उनकी 'अंगड़ाइयों की सुबह' शीर्षक कविता हो अथवा

वसंत पंचमी पर लिखी गई उनकी भावनापूर्ण कविता हो हर स्थल पर वह एक कुशल द्रष्टा के रूप में बिम्बों का निर्वाह कर सके हैं—

ऋतुराज के भाल पर टँके
बंकिम पंचमी के चाँद ओ
अहेरी रे
आओ पंच वाणों से बिंधने को
कब से ये प्राण व्याकुल हैं।

—पंचमी का चाँद

क्षितिज कोर सी दो बाँहें उठीं
गुलाबी ख़ुमार में कसीं—कसती गईं
कि चट-चट नसों के तारे सब—टूट गये
कुहरे का आँचल खिसक गया—
श्वास दोलित सरसी के तीरे—
दो चक्रवाक, हिलडुल कर मिल गये।

—अँगड़ाइयों की सुबह

अन्त में एक और विशेषता की ओर ध्यान जाता है। मलयज की समस्त आत्मवेदना एक प्रकार की रहस्यात्मकता तो नहीं, किन्तु पावनता के टोन के साथ व्यक्त हुई है। उसमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि मिट्टी और धूल में सने इन्सान की पीड़ा अजस्र शक्ति के साथ व्यक्त हो रही है।

सहने की पवित्रता, और दर्द की पावनता एक आत्म उपलब्धि के रूप में ही बड़ी हो सकती है। यदि उपलब्धि नहीं होती और वह मात्र पूजा की सीमा तक ही सीमित हो जाती है तो शायद वह अपना पूर्ण दायित्व नहीं निभा पाती। यही कारण है कि प्रस्तुत कविता में उपलब्धि की दृष्टि से अधिक पावनता की पूजा ही व्यक्त हुई है।

यह प्रश्न की बेला :
अब आओ—
दीप की अगिन किरन में दिपते
तुलसी के हरे नन्हें पौदे पत्ते,
इस बार भी
हम टूटे हुओं को,
भाप की गर्मी में सीझ सीझ

चुके हुओं को
आस्था के बन्धन में कस देंगे

समर्पण की बेला :
इस तुलसी चौरे पर दीप जला दो,
आओ।

यह मन:स्थिति मलयज की कविताओं का एक प्राकृतिक अंग है। इससे हट कर शायद ये कविताएँ अधिक संवेदनशील नहीं हो पातीं। मलयज की यह पावनता और पवित्रता मोह ही है जिसके कारण उनकी अनुभूति यथार्थ का सीधे ढंग से साक्षात्कार नहीं कर पाती और इसी से वह अभीष्ट की अपेक्षा केवल तटस्थ मन:स्थिति के सौन्दर्य तत्व को भी नहीं आँक पाती। ये कुछ कमियाँ हैं जो उनकी स्वच्छ और साफ़ रचनाओं के साथ स्वाभाविक रूप से मिलती हैं, किन्तु यह अन्तिम सत्य नहीं है। अनुभूति की गहराई और उसकी परिपक्वता के साथ यथार्थ जब मर्यादित होगा और अनावृत्त व्यक्तित्व के साथ कवि जब उसका साक्षात्कार करेगा तो यह थोड़ी बहुत कमियाँ भी समाप्त हो जाएँगी क्योंकि इन सबके होते हुए भी मलयज की यथार्थवादी दृष्टि में एक पैनी पैठ है जो साधारण रूप से किसी भी कवि मन को सहज ही उद्वेलित कर देती है।

1. नचिकेता

तुम्हारे पास आया हूँ।
दरवाजे की सन्धि पर
साँझ के झुटपुटे में
की है प्रतीक्षा;
तपस्या तन की
    मन की
    प्राणों की
    वहन की है सब—
पात्र हूँ;
भेजा है मुझको मेरे प्रियों ने ही
    मेरे सगों ने ही
मैं—जो उनकी आँखों का तारा था
आया हूँ तुम्हारे द्वार।

ओ कालदेव!
दोगे मुझे तुम
ऋद्धि
सिद्धि
दुर्लभ पदार्थों का अक्षुण्ण भोग
वैभव सुरलोकों का
        पर मैं जो निष्काषित हूँ
            प्रताड़ित हूँ
            घृण्य हूँ
        क्या करूँगा इनका?—

मेरा श्रेय
जुड़ा है उनसे जो मेरे हैं
जिन्होंने भेजा है मुझे तुम्हारे पास।

अतः दो
ओ कालदेव!
इस भूत से, वर्तमान से महत्
उस भविष्य का तीसरा वरदान मुझे दो
कि वे—मुझको नहीं
मेरी निष्ठा नहीं, मेरी पीड़ा नहीं—
अपने आपको देखें :
उन निर्वीर्य नपुंसक मूर्त्तियों को तोड़ें
जिनके आराधन में नेत्र उनके मूँदे हैं—

तोड़ने को जिन्हें ही
मैंने बाँहें उठाई थीं।

2. सीपी से सागर उलीचा नहीं जाता
    पलकें झुकी हैं भार से,
    दृष्टि

हर अपारदर्शी शीशे तक जाकर रुक जाती है,
हर गति, चेष्टा या विद्रोह
बेड़ियाँ पैरों की झनझना जाती हैं—
    हम सोच सोच चुक जाते हैं
    दर्द को पी जाते हैं,
पर ओ भाई, देखो तो
शत-सहस्त्र योजन लहराते-घहराते इस सागर को
हम
नन्हीं नन्हीं सीपियों से अपने
उलीचते ही चले जाते हैं।
क्रान्तिदृष्टा नहीं हैं हम
मनीषी भी नहीं
मसीहा भी नहीं
पर ओ भाई!
जब हम इसे और *[प्राणों की कोर तक]*
नहीं सह पाते हैं
तब कटिबद्ध हो, नेत्र मूँद
लहरों में घुस जाते हैं :

सीपी से सागर उलीचा न जाता हो
डूब कर हम सागर में
ढूँढ़कर सीपी से
मोती ही ले आते हैं।

3. तीस दिन की थाती

हल्दी से सनी साड़ी ठीक कर
सर ढँक लो
आटे से भरे हाथ धो डालो,
आओ
अपनी फटी हथेली फैलाओ
लो

सौपता हूँ—
ये थाती है तीस दिन तक तपने की,
मुन्ना के दूध
मुन्नी की फ्रॉक
और तुम्हारी टिकुली की कसक में
घुटने की;
आकाश के नीले पृष्ठ पर
सपनों के अक्षर,
तुम्हारे मुरझाए ओठों की लाली के गीत
लौटाने
इस मौलिश्री के बिरवे पर अश्रुजल चढ़ाने
या पलने को डुला डुला
लोरी की कलियाँ खिलाने—
    की साधों में सुलग सुलग
    जलती उँगलियों से साँझ तलक
    नतस्तक
    कलम घिसने की
    पिसने की....पिसने की....

4. शेष प्रश्न और प्रतिध्वनियाँ

साँप की बाँबी पर हड्डियों के स्तूप।
कुरेद कुरेद केंचुल की राख
पाँखी-सा
पंख खोल
    इंद्रधनुष जागा....
    [क्या वह दोशीज़ा का प्यार था?]
नभ के दो छोर पर
सेतु-सा फैल गया....
[फैल गया! फैल गया!! फैल गया!!!]

सतरंगी नक्शे में द्वीप नये
    देश नये :

शहज़ादी, शहज़ादा
वेष नये
रूप नये आ गए—
[नक्शे में]
शिशु के कच्चे घिरौंदों-से छा गए!....
[छा गए! छा गए!! छा गए!!!]

अनागत वह....
बिजली-सा तड़पा *[तभी]*
प्रश्नों के वक्र-मेघ
घनघोर
दौड़ गए;
मोर की ध्वनि तृषा भरी
उत्तर में गूँज उठी :
क्या ऽऽ ऊँ ऽऽ
[कहाँ हूँ मैं?]
नभ की कलाई में
सतरंगी गजरे थे
ताश की 'ट्रेल'....महज़ गुलाम
वंचक मुनादी पर
बिक गए
[बेशर्म! छिप गए]—
कुंठा ग्रस्त, अयथार्थ, शेष रही
लीक
रेंगता, घिसटता भयभीत सर्प था मैं
बाँबी में भाग गया....
[भाग गया! भाग गया!! भाग गया!!!—
कायर था भाग गया!!!!]
...मोर की ध्वनि तृषा भरी
टकराकर लौट आई :
क्याऽऽ ऊँऽऽ
(.......................... ।)

5. आँवा

....नहीं, मुझे तपने दो!
धीमी आँच की सुलगती फाँक तले
शुष्क तृण-पातों के बीच
    जलने दो!

साँझ की वह रेती कितनी उदास है।
एक मुट्ठी राख औ'
एक बूँद आँसू से पुता हुआ
श्मशान का सन्नाटा!
    'क्या कोई पास हैऽऽ?'
नीली कुंठा की एक लकीर
एक उसाँस....
उबकाई....
    धुएँ से घुटी हुई यतीम लाश है!

....हाँ, वह मैं ही हूँ
मुँह में जलती हुई अग्नि डाल
छोड़ गया है वह
जिसने कभी यत्न से सँवारा था मुझे।
पर कृतघ्न नहीं हूँ मैं :
    मेरी ईंट ईंट उसके नये घर की दीवार बन
    दुआ देगी....

मुझे सूखे तृण-पातों के बीच जलने दो!

6. बंद होंठों का गीत

    बस क्षण भर की बात थी!
टूटन कितनी बुरी चीज है
जैसे चिटखी बाँसुरी की डगमग उठान।
जैसे ठंडे कपोलों पर चुसे हुए फूल।
    पर तितली के पंख थोड़ा और घायल होते :
    [रंग का जादू बन्धन है!]

उतरती कलई-सी हँसी
कुछ और हँस दिये होते—
बस क्षण भर की बात थी!

मैं ने कब कहा प्यार दो
याने कब कहा दर्द छीन लो
अपनी ही छाया को फिर फिर कर थाहा है
पर मैं शायद कुछ और पागल होता :
[विष ही मेरा प्राप्य है!]
पत्थर के सर्प ओ!
कुछ और डस दिए होते—
बस क्षण भर की बात थी!

काठ की खूँटी से टँगी हुई माला
स्वयंवरा नहीं : अच्छा होता
प्रतीकों के बोझ से मुक्त हो जाता मैं
ओठ सी लेता, आँख मींच लेता :
[यह निष्ठा की परिणति है?]
बिदा के शब्द
कुछ और कस दिए होते—
बस क्षण भर की बात थी!

7. पहाड़ी पर चन्द्रोदय

नेह-छोह के किरण-जाल सब तोड़ रुपहले
किया समर्पित अपने को
मेरी अनदेखी अपनी जाने किसी आस्था को;
घास-फूस की मेरी सौ-सौ छिद्रोंवाली कुटिया से
दूर गए—
अंधी-करुणा की खग-तुतली नीरस ध्वनियों से दूर—
अजाने धुँधले सीमान्तों से
सपनों के चित्रलोक में
कि चिह्न

वक्ष पर द्रुतगामी उत्सुक उन चरणों का
अब भी अंकित है;
आँखों के अश्रुविन्दु तारों-से
ओछे थे शायद—
तुम देख न पाए,
पर मुट्ठी में चाँद तुम्हारे
कटा, रक्त से सना, ताजा यह
माँ का दिल है!
माँ का दिल है!
कहता है तुमसे—
चोट तो नहीं लगी
विछोह की इस ठोकर से?....

8. भोर

संकल्प की चट्टान पर पाँव टेक
दर्पस्फीत शिराएँ तान
अडिग-नेत्र
रात भर
जिस कठिन इस्पाती कुदाली से
काटता रहा पर्वतों को
वह क्या तेरी आस्था थी?
भूरे-मटमैले कुहरे-सी
छिन्न-भिन्न प्रस्तर की पर्त्तें,
दिशाओं के सीमान्त ढहाता
हर आघात,
चिटखते आकाश की कँपकँपाहट
अँधेरे के सीने में चुभती
रोड़े-सी
तारों की आहट
क्या केवल साक्षी थी—जनश्रुत
तेरे जुनून की?
तेरी सतत प्रतीक्षा की धुरी का केन्द्र

पर्वत के पीछे से वह निकली
खिलखिलाती
केवल क्या दूध की नदी थी?
नहीं!
नहीं!
नहीं!
कुदाली अब भी चलाए जा
चट्टानों में सोए पंथ अनेकों हैं
नदियाँ अनेकों हैं
मणि-उज्ज्वल दिवस अनेकों हैं
यद्यपि—
इतिहास के नंगे पृष्ठों के ओ फरहाद!
उस टूटे धुँधुँआए कँगूरे पर बुझा हुआ चाँद—
तेरी शीरीं
कबकी मर चुकी....

9. कुतुबनुमा

इस अधोमुख घाटी में पड़ा हुआ
निस्सहाय
मैं एक कुतुबनुमा हूँ।
चल-प्रकृति की कोख में
मात्र एक जड़-स्थिति हूँ
मुद्रा हूँ केवल
उठी हुई एक अशक्त अँगुली की
उस दिशा की ओर
जहाँ हिमशिखरों पर गलना होता है :
जो भी दुस्साहसी, हठीला
मेरे निर्देश-पथ का करेगा अनुगमन
अन्ततः उसे गलना ही होगा।....

किन्तु मैं एक आश्वास भी हूँ—
एक और संभावना का सोत, जो

अहिर्निशि मुझमें बहता रहता है
कि पूरब भुजा है मेरी बायीं
मेरे चिरन्तन अस्तित्व की इकाई
एक अदृश्य आयाम....
जहाँ हर रोज सूरज उगता है....

ओ दुस्साहसी! ओ हठीले!
मैं स्थिति से अधिक संभावना हूँ
तुझे चलना ही होगा
[मेरी आस्था की चुनौती]
उत्सर्ग के सलीब पर
यह उगता सूरज
ढोना ही होगा।

10. अनस्तित्व की चुनौती

आकाश में कल जो बदली घिरी थी
और उमड़ घुमड़ बरसी थी
उसकी एक बूँद
तल में पड़ी
सीपी को मिली थी।

नमकीन ज्वारभाटों में
जो बिलबिलाती रही
उस अकेली प्यास को भी
दुनियाँ ने छल लिया :
मोती को छीन
सीप की खोखल को फेंक दिया....

वह तिरस्कृत अनुपयोगी खोखल
क्या मैं ही हूँ?

....भव्य कलाकृति अफ्रोडाइट की
रख दी गई है म्यूज़ियम में

[दर्शकों से राष्ट्रनिर्माण के हित कोष एकत्र किया जाएगा!]
और उसके कटे हुए दो हाथ
मेरे हैं :
मैं उन निर्जीव घिनौने हाथों को
अंधे-सा छूता हूँ
अँगुली से कोंचता हूँ
दाँत से चबाता हूँ....
वह मेरा अनस्तित्व है :

वह केले का छिलका
सड़क पर फेंका हुआ
ताकि हर कोई रपट कर गिरे
चोट खाए
खून बहे....
जीने की विवशता में
हर आगत पाँव थाम ले वह, कहे
ओ भाई, सुनो!
तुमने मुझे क्यों फेंका?
क्यों फेंका?
मुझे छिलके, खोखल, अनस्तित्व की भी मर्यादा है!
वह मर्यादा....
रेतीली धरती पर खड़ा हुआ ताड़ का पेड़
मेरे उस गुमनाम अस्तित्व को
मोती को
अफ्रोडाइट की कलाकृति को
बुलाता है
आओ!
क्या हम महज़ एक हैं?
[—नहीं!]
बंजर परतों से रिसता हुआ दर्द
एक है?
[—नहीं!]

आँखों में चुभते प्रश्न चिह्न
एक हैं?
[—नहीं!]
....तो अपने तरकश संभालो :
हम एक नहीं तो सात भी नहीं
सात सौ भी नहीं
[आँकड़ों में—अनस्तित्व की
खोल की
छिलके की
आत्मा थाही नहीं जाती!]
तुम—
हमारी मर्यादा से परे
[बनवासी?]
राम हो
छेद दो हमें आर-पार
छेद दो :
धर्म की मर्यादा तो कम से कम
रह जायेगी—
धर्म....जिस पर धरती यह टिकी है।

11. प्राक्कथन

सुबह :
एक पृष्ठ है मेरी कविता की कापी का—
पहला ही पृष्ठ—
जिस पर एक अबोध बच्चे ने
खेल ही खेल में
लाल पेंसिल से नाम अपना लिख डाला है
ताकि लगे :
कविताएँ सब उसी की हैं
मैं तो केवल 'प्राक्कथन' हूँ!

12. राहु के बेटे

दान करो!
दान करो!—
    कुंठा का दान!
    पीड़ा का दान!!
    विवशता का दान!!!
[हम राहु के अगणित बेटे
गली-गली द्वार-द्वार गुहार रहे—]
दान करो
ग्रहण कर लेंगे सब कुछ हम विनत-शिर!

....यह विवेक के हर क्षण-प्लावन में
डँसता
कटे-फटे सीमा-कगारों का शाप,
यह हर उत्सुक नम्र-दृष्टि पर मँडलाता
विष-फेन-सा
अँधेरे का पाप,
यह ज्योतिष के पन्नों में
आस्था की नाव,
यह उल्टी हवाओं में चिथड़े मस्तूल,
यह भटकन की धूल,
यह गूँज,
यह स्वप्निल जल-फूलों में धँसे हुए पाँव—
सच मानों,
सच मानों, हमारी सृष्टि नहीं है यह
हम इसके विधायक नहीं,
किन्तु हम विरासत के दोषी हैं :
क्योंकि जिस विकलांग परम्परा ने
हर उगते ज्योति-पिंड की तिलतिल कर हत्या की
उसी के हम अंशज हैं!

इसीलिए दान करो

ओ *[अँधेरे की सीमान्तों पर खड़े*
प्रकाश की यात्रा के पथिक!]
दान करो
    अपनी कुंठा का दान
    पीड़ा का दान
    विवशता का दान—
ग्रहण कर लेंगे सब कुछ हम विनत-शिर :
हम *[— राहु के अगणित बेटे]*
पूर्वनिश्चित परम्परा का
साथ साथ
विसर्जन करते हैं
प्रकाश के एक नये उत्कर्ष की भूमिका में...।

13. पुस्तक-समीक्षा

जिन्दगी बहुत-सी सुबहों की
सिली हुई एक जिल्द....एक कविता-संकलन,
उपन्यास या नाटक!

....डालडा वनस्पति का पीला टिन
जिसके भीतर
    किसी एक नन्हीं-सी जान का कलेवा :
    एक छोटी-सी खुशी का अभिमान
    [जो आहत हो अन्य वेदी ढूँढ़ता है]
दूध की दँतुली-सा श्वेत, जमा हुआ द्रव
कभी था,
पर अब रिक्त....पुँछा हुआ है।

जब दिन वामन के पग-सा महाकाय बढ़ेगा
सृष्टि-छोर नापने को
तब कविता-संकलन, उपन्यास या नाटक की कला
पिघलकर

महज़ दो बूँद द्रव बन पेंदी में ढलेगी....
और बाहर ख़ाली टिन के हरे नारियल पर
बैठी
एक अन-बनी चिड़िया यह मर्म-कथा कहेगी
जब तक कि खेतों में एक भी फली जिन्दा है।....

14. सुबह

सुबह
आकाशों के थन से
गर्म गर्म दूध क़लईदार बर्तनों में भरता है।....
आवरणहीन
रोज़ हम ठिठुरते हैं—
जीने को क्या जिएँ?
गहरे, और गहरे में क्या उतरें?
ऊपर महज़ फेन है....
बस कुंठा की गन-दूषित गलियों के मुहाने पर खड़े
रोज़ हम कोसते हैं :
राम करे आकाश का बछड़ा बिला जाय
कांजीहाउस में बन्द हो
....मर जाय!
लेकिन बछड़ा मरता नहीं
रोज़ सुबह आता है।
रोज़ हम ठिठुरते हैं।
रोज़ फेन पीते हैं।—
थन पर बने हुए नाखूनों के चिह्न ही
क्या हमें झिझोंड़ते हैं?

विपिन की कविताएँ

(रघुवंश)

आधुनिकता का नया स्वर—विपिन

विपिन कवि है, वैज्ञानिक है और आधुनिक भी। उसकी आधुनिक दृष्टि साहित्य की अपेक्षा विज्ञान से अधिक विकसित हुई है। साहित्य उसने पढ़ा है, पर साहित्य के विद्यार्थी की पद्धति से परम्पराओं के आधार पर नहीं। यदि कहीं परम्पराओं का उसको परिचय है तो विज्ञान की, जहाँ आज की तीव्र प्रगति के संदर्भ में परम्पराओं को गहना अनावश्यक हो गया है। इसीलिये उसकी प्रवृत्ति वैज्ञानिक है और उसकी कविता प्रकृतित: आधुनिक है। कविता में वैज्ञानिक मनोवृत्ति की आधुनिकता का अर्थ इस युग के वैज्ञानिक आविष्कारों तथा प्रावैधिक उन्नति की चर्चा करना नहीं है और न ही उनसे अनिवार्यत: रूपक अथवा प्रतीक ग्रहण करना ही, जैसा आज प्राय: समझ लिया जाता है। इस प्रकार के रूपक या प्रतीक हमको मध्ययुगीन मनोवृत्ति के आगे नहीं ले जा सकते।

वैज्ञानिक मनोवृत्ति के परिणामस्वरूप आधुनिकता की एक विशेषता है, असंतृप्ति (Dissatisfaction)। इस असंतृप्ति के कारण ही आधुनिक कवि परम्परा से विद्रोह करता है और नये मार्ग का अन्वेषक बनता है। पिछले युगों के काव्य के व्यतिरेक (Excellence), अभिस्यंदन (Effusion), अतिरेक (Extravagence), परिपूर्णता (Perfection) और कलाकौशल से ही वह असंतृप्त है। उसके लिये वस्तुओं का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं रह गया है, उनकी स्थितियों का आकर्षण समाप्त हो गया है। उनका यथार्थ रहस्यात्मक, काल्पनिक या अतिरंजित रूप में कवि के अनुभव का विषय नहीं हो पाता। अत: आज के कवि के लिये अनुभव सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसा नहीं कि पिछले कवियों के लिए अनुभव का महत्त्व नहीं था, पर उनके लिए वस्तु तथा स्थिति भी सार्थक थे, अत: उनका अनुभव भावाकुलता या भावशीलता में प्रतिघटित होता था। यह भावावेश फिर अपनी अभिव्यक्ति के लिए अनेक ऐसे उपकरणों का आश्रय लेता है, जिनसे कविता लिखी जाती रही है। आज के कवि की दृष्टि से कविता की इस पूर्णता में, शिल्प-कौशल में तथा भावावेग में वास्तविक अनुभव बोझिल हो जाता है, खो जाता है। इसी कारण वह असंतुष्ट है और अपने सर्जनात्मक अनुभव को संघटित करने के अन्वेषण में संलग्न है। विपिन ने नये कवि के इस अनुभव को 'मोटर, लाल बत्तियाँ और अभिमान' और 'ज़रूरत से ज़्यादा' जैसी कविताओं में व्यक्त किया है। हमारी गति परछाइयों से व्यंजित होती है, मोटर की

लाल बत्तियाँ (गति के अनुभव के आवेगपूर्ण उपकरण) हमारे इस अभिमान को खंडित नहीं कर सकतीं—

> **बजाय रोशनी के**
> **छाया से**
> **जो बात कह ले**
> **उसकी पहुँच ज़्यादा है।**

यही भाव दूसरी कविता में और भी स्पष्ट है, यद्यपि इसी कारण इसका आन्तरिक संरचनात्मक संघटन कम है—

> **निविड़ अन्धकार में भी**
> **कभी कभी**
> **वस्तु का भार**
> **आत्मा सा**
> **न जाने कैसे पुकार**
> **राही को आगाह कर देता है!**
> **सच मानो,**
> **यह सब प्रकाश**
> **रूप की मरीचिका सा**
> **ज़रूरत से ज़्यादा है!**

विचक्षणता (Efficiency) वैज्ञानिक युग की पहली माँग है। आधुनिक दृष्टि परिपूर्णता के स्थान पर विचक्षणता को महत्त्व देती है, यह विचक्षणता ही उसका व्यतिरेक (Excellence) है और उसके साथ अतिरेक और अभिस्यन्दन की संगति बैठ नहीं सकती। कम से कम समय, शक्ति तथा साधन के व्यय से निश्चित उद्देश्य तक पहुँचना विचक्षणता का आदर्श है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि से आज का कवि अपने अनुभव की समस्या को हल करने में संलग्न है। वह अपने इस काव्यात्मक अनुभव को वस्तु, स्थिति अथवा चरित्र आदि की प्रतिक्रिया या भावशीलता के रूप में नहीं मानता। वह सीधे अनुभव को उसी स्तर पर ग्रहण करता है और इसी कारण उसके अनुभव तथा काव्य-रचना में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं देखा जा सकता, वे दोनों उसकी सर्जन-प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं। इस निश्चित दृष्टि के कारण कथ्य और कथन अर्थात् वस्तु तथा शिल्प अपने आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते, जो महत्त्वपूर्ण तथा सार्थक है, वह अनुभव की सीधी अभिव्यक्ति है। अनुभव को सर्जनात्मक क्षण के रूप में प्रस्तुत करने में आज का कवि अपने सामने विचक्षणता (Efficiency) का आदर्श रखता है। इस कारण कवि कविता में वर्णित वस्तुओं की किसी सार्थक या तार्किक परिणति की परिकल्पना लेकर नहीं चलता और न उसे किसी निश्चित अथवा सुन्दर बिम्ब-विधान

की आवश्यकता ही होती है, क्योंकि वह सीधे अनुभव को सर्जन के क्षणों में ग्रहण करने में प्रयत्नशील है, अत: वह उसके लिए विचक्षण (Efficient) उपायों का प्रयोग करता है। विपिन में निरन्तर ऐसा प्रयत्न पाया जाता है, यही कारण है कि उसमें परम्परा की दृष्टि से वस्तु तथा शिल्प की नितान्त अवहेलना सदा मिलेगी। 'अभी' नामक कविता में वस्तु और शिल्प सम्बन्धी यह दृष्टि देखी जा सकती है—

फेंकी हुई चकई की डोर सी
तनी सड़कें
न जाने कब लिपट जाएँ।
अपने दाँव की इन्तज़ारी में खड़े
हरे पेड़
कब बाँहें चढ़ा अपने कत्थई हाथों से
बीते वसन्त को दुलारते रह जाएँ।
कौन जाने हम-तुम
बहुत खुश, कल
हँसने में शर्माएँ।

उपर्युक्त कविता में प्रस्तुत विषय और उसको व्यंजित करने की शैली अपने-आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, उनकी सार्थकता इसी बात में है कि इनके द्वारा कवि अपने सर्जनात्मक अनुभव को विचक्षण (Efficient) ढंग से कह सकता है। कोई भी जीवन की यथार्थ स्थिति नये कवि को अनेक भावों से संवेदित कर सकती है, परन्तु वह आलंबन, आश्रय, उद्दीपन, संचारी आदि के वस्तुपरक आधार पर न कोई निरपेक्ष रसदशा उत्पन्न करना चहता है और न प्रभावात्मक शैली में पाठक में उस भावना को तीव्रता के साथ जाग्रत करने का उपक्रम ही करता है। क्योंकि इस प्रकार की पद्धतियों से नया कवि अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। वह तो सम्पूर्ण अनुभव को अर्थात् अपने सर्जनात्मक अनुभव को, उसकी समग्र संवेदनशीलता के साथ, इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक उसका सक्रिय सहभागी हो सके।

अपने अनुभव को सीधे व्यक्त करने में तथा पाठक को उस तक पहुँचाने में कवि को काफ़ी आत्मनियन्त्रण करना पड़ता है, जिससे वह न स्वत: किसी भावुकता में बह जाय और न अपने पाठक को भावातिरेक या भावावेश की स्थिति में प्ररित करे। एक प्रकार से यह आत्मनियन्त्रण वैज्ञानिक दृष्टि की विलक्षणता से सम्बद्ध है। इस नियंत्रण का सफल प्रयोग विपिन की कविताओं में विशेष रूप से देखा जा सकता है। आगे संकलित कविताओं में 'अभागा' के इस वर्णन में—

अपनी क़लम सफ़ेद कपड़े में लपेट
बाँहों पर टिका वीरान वादी की ओर
निकला सहसा चौराहे पर सहमा हो!

भावावेग तथा भावातिरेक की स्थिति से बचाकर कवि ने कविता के सारे अनुभव की रक्षा की है। यहाँ 'शव' के प्रत्यक्ष रूपक में पाठक के उलझ जाने की संभावना से भी कवि ने अपने नियंत्रण के कारण मुक्ति प्राप्त की है।

यह कवि जिस प्रकार भावों के अतिरेक से बचता है, उसी प्रकार कथन की अतिशयोक्ति से सतर्क रहता है। वस्तुत: उसके लिए कोई भी अनुभव मात्र काव्य की प्रेरणा नहीं है, वह काव्य-सर्जन की प्रक्रिया में उस अनुभव को पूर्णत: निष्पन्न करना चाहता है। वह देखता है कि विषय-वस्तु अथवा अनुभव की स्थिति को महत्त्व देने पर उसका वस्तुपरक बाह्य ढाँचा भर खड़ा हो पाता है। यदि उससे सम्बद्ध भावनाओं को आवेगपूर्ण ढंग से व्यक्त किया जाता है तो भावोद्वेलन भर हाथ लगता है, अनुभव का अधिकांश अनकहा रह जाता है। इस स्थिति में आज का कवि जिस प्रकार भावों के अभिस्यन्दन (Effusion) से बचता है, उसकी प्रकार शैली और शिल्प के अतिरेक (Extravagence) को सहन नहीं कर पाता है। अत: उसका मितभाषी होना उसके काव्य की आन्तरिक संगति की माँग है। वह समझ चुका है कि भावोल्लास में तथा कथन के उत्साह में वर्णन प्रधान हो जाता है, महत्त्वपूर्ण लगने लगता है और अनुभव गौण हो जाता है; अत: मितव्ययिता (Economy) के साथ कम कथन (Understatement) करता है। विपिन की इस कविता में निर्धनता, एकाकीपन, निरुपायता तथा आत्मनिष्ठ आदि भावों को एक अनुभव में समेट लिया गया है—

अपने कमरे को बन्द कर
दीवारों पर भयानक आकृतियाँ खींचकर
जहाँ वातायन नहीं है वहाँ से
बाहर देखने का प्रयत्न कर
फ़र्श पर खड़िया से चौराहा बना
उसके बीच खड़ा
बिना कोहनी का कोट पहने
मैं दुखी अपाहिज अकेला ग़रीब
कब से हिसाब लगा रहा हूँ
कि हज़ार आँखें रोएँ एक बार
और एक आँख रोए हज़ार बार
तो कौन-सा दु:ख ज़्यादा है?

वह मितकथन करता है, इसलिए नहीं कि उसका कथ्य ही सीमित है, उसका अनुभव ही संकुचित है। वरन् बात इसके विपरीत है। कवि जब अनुभव को महत्त्व देता है, कविता को भावात्मक प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार नहीं करता, तब उसके अनुभव के क्षण के परिवेश में उसके जीवन का बहुत बड़ा विस्तार आ जाना स्वाभाविक है। आज की कविता में क्षणवाद की आलोचना करने वाले प्राय: क्षण के

अर्थ को समझने में भूल करते हैं। इसी कारण क्षण के अनुभव का अर्थ प्राय: सीमित, संकुचित, भूत-भविष्य से कटा हुआ तथा अर्थहीन अनुभव लेते हैं। जब वस्तुओं तथा स्थितियों की प्रतिक्रियाओं तथा प्रेरणाओं से हटकर कवि सीधे उनके अनुभवों को सर्जन-प्रक्रिया में ग्रहण करता है, उस समय क्षण का महत्त्व अपने-आप में निर्धारित हो जाता है, पर इस क्षण के अनुभव में अतीत, वर्तमान, भूत, उनका सारा इतिहास और पुराण समाहित हो सकता है। फलक के इस अपरिमित विस्तार के कारण भी कल्पना, व्यतिरेक, अभिस्यंदन अथवा अलंकरण की शैलियाँ नये कवि के लिए अनपयुक्त हैं, परन्तु उसका यह मितकथन (Understatement) अल्प (Insignificant) कथन मात्र नहीं है, इसके लिए अनुभव को संघटित करने की अपूर्व क्षमता अपेक्षित है। विपिन की कविताओं में अनुभव के विस्तृत परिवेश को इसी शैली में ग्रहण करने का प्रयत्न है। 'न्यूयार्क पर तीन दृष्टियाँ' नामक कविता की प्रारंभिक पंक्तियों में न्यूयार्क का एक दर्शक के अनुभव के स्तर का चित्रण है—

अजब जंगल है—
धूप के क़तरे को तरसती
होड़ लेती
उठती मीनारों का!
बड़ा घना जाल है
मकड़ी के जालों का!
जानवरों के नाद से भी भयानक है
यह शोर—बिना गले की आवाज़ों का!
कैसा दम घुटता है,
हर क़दम पर जान का ख़तरा है।
यहाँ—
न सूरज है!
न चाँद है!
न हवा है!

आगे इस कविता में क्षण के अनुभव के अन्तर्गत संपूर्ण यांत्रिक तथा प्रावैधिक सभ्यता की विसंगति इतिहास-पुराण के माध्यम से व्यंजित है, जिसमें अनुभव की आंतरिक संगति मितकथन के कुशल प्रयोग से ही सम्भव हो सकी है।

उपर्युक्त वैज्ञानिक दृष्टि के विकास के साथ ही वस्तुओं या स्थितियों को रहस्यात्मक, रोमांटिक या काल्पनिक भावशीलता के साथ ग्रहण करना सम्भव नहीं रह गया है। यह दूसरी बात है कि कोई अपने बचपन को छोड़ने से इन्कार कर दे या कैशोरावस्था से आगे बढ़ना न चाहे अथवा स्वप्नों में जीना चाहे। यद्दपि आज के जीवन

की टकराहट इसकी मुक्ति देगी, इसमें सन्देह है। अत: आज के कवि का प्रत्यक्ष सहज बोध (Common sense) का है, वह स्थितियों को वस्तु के साधारण विवरण में स्वीकार करता है। परन्तु इस प्रकार के विवरणों को सामान्य विषय (Common place) के स्तर से उठाकर संघटित अनुभव का अंग बनाना आज के कवि का प्रयत्न है। उसकी प्रत्यक्षीकरण की यह सबल तथा सहज-बोध शैली आधुनिक काव्यात्मक मनोभाव के जितने निकट तथा अनुकूल है, उतना ही इसमें ख़तरा है कि काव्य-वस्तु मात्र सामान्य विषय न रह जाय। इसी कारण ऊपर से नयी कविता लिखना जितना आसान जान पड़ता है, उसकी उपलब्धि उतनी ही कठिन है। इस अन्तर को हृदयंगम न कर सकने से कई नये कवि अनेक बार अपनी वस्तु को काव्यानुभूति के स्तर तक उठा नहीं सके हैं। विपिन में इसकी सजगता है, यह अलग बात है कि कवि को समान सफलता सर्वत्र नहीं मिल सकी है, पर यह भी है कि उसने अपने असफल प्रयोगों से सफल उपलब्धि का मार्ग अन्वेषित किया है।

यही बात विपिन के विसंगति (Absurdity) सम्बन्धी प्रयोगों के बारे में भी कही जा सकती है। नये कवियों में अनेक ने विसंगति का प्रयोग किया है। ऊपर से काव्य में विसंगतियों का प्रयोग कौतुक, वैचित्र्य, संक्षोभ के द्वारा ध्यान आकर्षित करने तथा चोट पहुँचाकर व्यंग्य ग्रहण करने के लिए जान पड़ता है और अधिकांश कवियों ने नयेपन के आग्रह से इनका प्रयोग इसी उद्देश्य तथा स्तर पर किया है, पर वस्तुत: विसंगति वैज्ञानिक दृष्टि से भी सम्बद्ध है। हम जानते हैं कि वस्तु के प्रत्यक्ष और तात्त्विक ज्ञान में अन्तर है। कवि का क्षेत्र वैसे भी ज्ञान नहीं अनुभव है, फिर जब प्रत्यक्ष तथा तात्त्विक के बीच विज्ञान ने मनुष्य की सापेक्ष्य सीमाओं के इतने व्यवधान प्रस्तुत कर दिये हैं, उसके पास सहज बोध के स्तर के बाद दूसरा आधार विसंगति का है। विपिन सदा ही विसंगतियों का प्रयोग सहज बोध के वर्णनों के साथ या अन्तर्गत करता है, और इस प्रकार इनके माध्यम से वस्तुओं, स्थितियों तथा उनके अनुभवों के नये आयाम उद्‌घाटित होते हैं। यही कारण है कि विसंगतियों का जैसा वैचित्र्यपूर्ण, आकर्षक तथा घटाटोप प्रयोग अन्य कवियों में मिलता है, विपिन में नहीं है। उसकी कविता में सहज बोध के स्तर पर वस्तुओं का जैसा सरल वर्णन है, वैसा ही सरल प्रयोग विसंगतियों का भी है। संकलित कविताओं में—'अभागा' में—

एक नयी रचना करने के लिए
पेपरवेट के अन्दर से निकला हो।

ऐसा ही प्रयोग है। अपेक्षाकृत लम्बी रचना 'इस युग के दावेदार' में इस प्रकार के प्रयोगों से एक ओर सहज-बोध के स्तर पर सारी कविता प्रतिष्ठित है और दूसरी ओर अनुभव की संवेदना साधारण विषय की स्थिति से कहीं गहरे उतरी है तथा व्यापक अनुगूँज उत्पन्न करने में समर्थ हो सकी है, परन्तु जहाँ विसंगतियाँ वस्तु-स्थितियों के नवीन परिप्रेक्ष्य के आधार पर इस अनुगूँज को ध्वनित-प्रतिध्वनित नहीं कर पाती, वहाँ इनमें साधारण वैचित्र्य का कौतुक या आकर्षण भी नहीं है।

विपिन की भाषा की स्थिति भी यहीं है। किसी काव्य-परम्परा से सम्बद्ध न होने के कारण, उसको किसी का संस्कार नहीं मिला है। यह भाषा सीधे जीवन से उठाई गई है। इस कारण जहाँ काव्यात्मक संवेदन को भाषा वहन नहीं कर पाती, वहाँ बहुत ही साधारण तथा अकाव्यात्मक हो गयी है। परन्तु अपनी इस स्थिति में उसे परंपरागत रूढ़ियों से सहज मुक्ति मिल जाती है, जो आधुनिक मनोवृत्ति के संदर्भ में नयी कविता के लिए अनिवार्य है। भाषा की परंपरा उसको एक संस्कार में बाँधती है और परंपरागत संस्कार जिस प्रकार वर्णन की शैलियों को निर्धारित कर देता है, उसी प्रकार अनुभव की कोटियों को निश्चित करता है। किसी भी युग में परिवर्तित सौन्दर्य-बोध के कारण उस युग के कवि को भाषा तथा शिल्प की पिछली परम्पराओं से विद्रोह करना पड़ता है और साथ ही अपना भिन्न मार्ग खोजना भी होता है। इस संक्रान्ति की स्थिति में कवि भाषा सम्बन्धी साहसिक प्रयोग करता है, जिसका अपना स्वयं आकर्षण है। विपिन के सामने यह समस्या रही ही नहीं है। अत: जहाँ वह सफल हुआ है, वहाँ सहज ही और जहाँ असफल हुआ है, वहाँ कोई चमक या आकर्षण भी उत्पन्न नहीं कर सका है। यह अलग बात है कि साहसिक प्रयोग द्वारा आकर्षित करना कविता का उद्देश्य नहीं हो सकता।

भाषा के साथ शिल्प का प्रश्न उठता है। काव्य की वस्तु सम्बन्धी दृष्टि के साथ शिल्प का प्रश्न जुड़ा है। पिछले काव्य में उपमानों तथा प्रतीकों का जैसा प्रयोग हुआ है अथवा जिस पद्धति से लाक्षणिक तथा व्यंजक अर्थ ग्रहण किया जाता रहा है, उसकी एक निश्चित परंपरा बन गयी है। वस्तुत: ये शैलियाँ अनुभव को भावनाओं की प्रेरणा के रूप में मान कर चलती हैं, इस कारण अनुभव की आधार-रूप वस्तु-स्थितियों का महत्त्व इनमें स्वत:सिद्ध हो जाता है। नया कवि भावनाओं को अनुभव के अन्तर्गत स्वीकार कर उसे ही काव्य-रचना की प्रक्रिया में ग्रहण करने का उपक्रम करता है। इस स्थिति में उसके लिए पहले की काव्यशैलियाँ अनुपयोगी सिद्ध होंगी। पिछले प्रयोग बार-बार उसको तथा उसके पाठक को परंपरागत अनुभवों की ओर खींचते रहेंगे, अत: कवि इन प्रयोगों के माध्यम से अपने अनुभव को व्यक्त करने में असफल होता रहेगा।

इस स्थिति में नया कवि काव्य-व्यंजना की नवीन शैलियाँ विकसित करता है, जिनका संकेत ऊपर किया गया है। इस प्रकार की व्यंजना में जीवन सम्बन्धी आधुनिक दृष्टि तथा उस पर आधारित सौंदर्यबोध के व्यक्त करने की शक्ति है। इस व्यंजना शक्ति के अपरिचित लगने का कारण प्राय: इस नवीन दृष्टि तथा बोध की सजगता की कमी है और वह इसी कारण परंपरागत उपमानों तथा प्रतीकों की सौंदर्यमूलक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण योजना के स्थान पर साधारण जीवन के सहज प्राप्य नये उपमानों तथा प्रतीकों का उपयोग करता है। इनके माध्यम से कवि कल्पना को नया विस्तार प्रदान करता है, अनुभव के काव्य-बोध के लिए कल्पना का तत्त्व सदा अनिवार्य है, साथ ही इनसे जीवन का संदर्भ अनुभूति के स्तर पर स्थापित होता है। जहाँ ये साधारण जीवन से ग्रहण किये गये उपमान तथा प्रतीक अपने प्रयोग में मात्र वैचित्र्य और कौतूहल की

सृष्टि करते हैं, नयी कविता का उद्देश्य असफल होता है। विपिन के इस प्रकार के प्रयोग में इसको समझा जा सकता है—

थोड़ी सी बुद्धि और
बड़ा सा ख़ाली दिमाग़ ले
विषय के प्रवर्तक
मंच पर खड़े हो
टीन के झुनझुने की तरह
अपना सिर हिलाने, डुलाने और बजाने लगे
और माइक अपनी गर्दन उठाए
वक्ता और श्रोताओं के बीच
प्रश्न-चिह्न-सा खड़ा
एक मुद्रा में उनको देखता रहा
और सोचता रहा उन सभी के बारे में
जो जन्म से अब तक उसे
न जाने क्या-क्या समझा गये!

इस कविता में 'टीन का झुनझुना' का उपमान रूप में तथा 'माइक' का प्रतीक रूप में प्रयोग वैचित्र्य की दृष्टि से नहीं हुआ है। इनके माध्यम से कवि ने आधुनिक जीवन की कल्पना का विस्तार उद्घाटित किया है। यह कल्पना भी अपने-आप में सार्थक नहीं मानी जा सकती, जब तक कि वह कविता के काव्यात्मक अनुभव की आंतरिक संगति का अंग नहीं हो जाती। यह अनुभव की आंतरिक संगति नयी कविता की विशिष्टता है और इसकी उपलब्धि आज की कविता की सफलता है। इसको स्थितियों की और भावनाओं की संगति से अलग करके समझा जा सकता है। आज की कविता स्थितियों तथा भावनाओं में अपने को नहीं बाँधती, इसलिए अनुभव की आन्तरिक संगति में ही वह सफल होती है। विपिन को, भाषा, शिल्प तथा विषय को अत्यन्त साधारण स्तर से उठाकर इसी अनुभव की आन्तरिक संगति के बल पर कविता बनाने में अनेक बार सफलता मिली है। पर जहाँ यह ऐसा नहीं हो सका है, वहाँ अनुभव के स्थान पर कथ्य या निष्कर्ष प्रधान हो जाता है। उपर्युक्त कविता में आन्तरिक संगति का अपेक्षित निर्वाह नहीं हो सका है—

मजमा उठ गया
श्रोता और वक्ता चले गये
दीवारें खड़ी सोचती रहीं
वह सब इश्तहार
जो आदमी ने इतनी मेहनत से

बनाए और लगाए थे

सहसा बेकार हो गये!

कविता में इस स्थल तक संघटन रक्षित है, पर आगे—

बिजली के खम्भों ने सुना

माइक ने जाते समय

शहर की दीवारों से कहा

आज सब थक गये हैं

कल वक्ता बदलेंगे

और विज्ञापन बदलेंगे

कल फिर ज़िन्दगी के

हज़ारों दिन बीतेंगे

अनर्गल में।

इन अन्तिम पंक्तियों में कथ्य की संगति अधिक पूर्ण हो जाने से अनुभव की आन्तरिक संगति विशृंखल हो गयी है।

इस आन्तरिक संगति को प्राप्त करने की प्रक्रिया बौद्धिक है और इसी अर्थ में आधुनिक कविता बौद्धिक कही भी जा सकती है। जो आज की कविता में बौद्धिकता का यह अर्थ लेते हैं कि उसमें स्थितियों की, विचारों की तथा समस्याओं की तार्किक निष्पत्तियों का आग्रह है, वे या तो ग़लत रचना को कविता मानते हैं या उनके मन में कविता के बारे में ही भ्रम है। नया कवि भी इस प्रकार की निष्पत्तियों को कविता नहीं मानता और न उसकी काव्य-रचना का यह उद्देश्य ही है। अपनी काव्य-रचना की समग्र संवेदनात्मक प्रक्रिया में वह बौद्धिक रूप से जागरूक रहता है, जिसके द्वारा वह एक ओर अपनी रचना के प्रति अपेक्षित सौंदर्यानुभूति की दूरी (Aesthetic distance) बनाये रहता है और दूसरी ओर अतिरिक्त भावावेगों से तथा अतिरंजित कल्पनाओं से मुक्त हो पाता है। इस बौद्धिक प्रवृत्ति के कारण वह संपूर्ण समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओं के प्रति जागरूक अवश्य हो सकता है, पर कवि के रूप में उनकी तार्किक संगतियाँ ढूँढ़ना, उनसे निष्कर्ष निकालना अथवा उनका समाधान प्रस्तुत करना उसका कार्य नहीं है। यह व्यापक जागरुकता उसके व्यक्तित्व में अपेक्षित है, क्योंकि इस प्रकार वह अनुभव के व्यापक संदर्भों को भली भाँति निर्धारित कर सकता है और इसके माध्यम से वह अपने काव्यात्मक अनुभव में अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण अंश (जिसे विपिन ने धन + कहा है) कविता की आंतरिक संगति में व्यंजित कर सकता है, जो अपनी अनुगूँज में सहभागी पाठक के लिए अर्थ के नये क्षितिज खोल सके।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि अपनी सम्पूर्ण प्रगति के बावजूद आज के युग को निश्चित दिशा नहीं दे पा रही है। हमारा प्रकृति सम्बन्धी समस्त ज्ञान हमारी विजय

तथा शक्ति का अनुभव तो है पर हमारी असीम निरुपायता का एहसास भी कराता है। ज्ञान-विज्ञान की दिशा में आगे बढ़ते रहने पर भी हमारा असंतोष कम नहीं होता। सम्पूर्ण वैज्ञानिक, प्रावैधिक तथा यान्त्रिक उन्नति के बावजूद हम किसी मानवीय उद्देश्य अथवा सार्थकता को खोज पाने में असमर्थ हैं। इस मनोवृत्ति के युग की कविता में असंतोष, अर्थहीनता तथा उद्देश्यहीनता का अनुभव प्रधान होना स्वाभाविक है। इसी के साथ आशाहीनता (निराशा नहीं), अ-नैतिकता (Amorality) तथा निर्ममता (Callousness) का अनुभव भी सम्मिलित किया जा सकता है। विपिन की कविताओं में आधुनिक जीवन के इन्हीं अनुभवों को व्यंजित किया गया है—

बहुत दिन पहले
हम अपनी-अपनी आत्माएँ ले
पृथ्वी पर चढ़े थे
दूर जाना था हमें
राह में भटके
यहाँ आ अटके
अपने को बहलाने को
ज़मीन पर बना लिए हैं
राहों के जाल
और गन्तव्यों के छत्ते
सफ़र अब भी करते हैं
असबाब बाँध गाड़ियों पर चढ़ते हैं
पहुँचते हैं यहाँ-वहाँ
पर भूले हैं आत्मा की राह
कब चले थे
जाना था कहाँ?

इस कविता में अर्थहीनता तथा उद्देश्यहीनता को कुछ स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया गया है, इसी कारण यह उतनी सफल नहीं है, जब कि अन्य संकलित कविताओं में इन्हीं अनुभवों को अधिक गहरे स्तरों पर संवेदित किया जा सकता है। यहाँ यह कहना प्रासंगिक है कि किसी युग का कवि मूल्यों की स्थापना नहीं करता, इसी प्रकार आधुनिक कवि भी आधुनिक जीवन के व्यापक तथा गहन अनुभवों को अपनी रचना-प्रक्रिया में ग्रहण करने का उपक्रम मात्र करता है। यह अलग बात है कि उसकी व्यंजना के आधार पर आगत मूल्यों का संचरण हो सके। काव्य का उद्देश्य उपदेश देना या समस्या का समाधान प्रस्तुत करना कभी नहीं रहा है। आज की कविता का लक्ष्य तो मनोरंजन करना या आनन्द देना भी नहीं है। आधुनिक पाठक कवि की सर्जन-प्रक्रिया

का सहभागी होकर अपने अनुभव-क्षेत्र में उसे पुनर्संगठित करता है। वैसे तो सदा पाठक की परिभाषा की गयी है, किसी भी युग में प्रत्येक व्यक्ति को काव्य-कृति के रसास्वादन का अधिकारी नहीं माना गया है, पर आज की स्थिति में तो कवि के साथ पाठक का भावबोध प्राय: निर्धारित हो जाता है। आधुनिक कवि के भावबोध और रचना-प्रक्रिया के स्तर का अनुभव और समसामयिक चेतना की माँग आज के पाठक से अनिवार्यत: की जा सकती है। कवि अपनी काव्यात्मक संवेदना, आन्तरिक संगति तथा संरचनात्मक संघटना के माध्यम से पाठक के अनुभव को सक्रिय करता है, उसे कल्पनात्मक विस्तार देता है, जिससे वह कविता में निहित संवेदन के गहन स्तरों तथा अतिरिक्त अनुगूँजों के नये आयामों का अन्वेषण कर सके।

विपिन जैसे एकदम आधुनिक मनोवृत्ति के कवियों की उपलब्धि के बारे में ठीक ढंग से कह सकना आसान नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की कविता की सफलता और उपलब्धि का ठीक अनुभव ऐसे ही पाठक कर सकेंगे, जिनमें वर्तमान युग की संवेदनशीलता विकसित हो। यह कविता परम्परागत शिल्प-विधानों तथा बाह्य आवरणों से इस सीमा तक मुक्त हो चुकी है और आन्तरिक तथा संरचनात्मक संगति तथा संघटना पर इस सीमा तक आश्रित हो गयी है कि एक तो परम्परागत तथा बाह्य नियमों के आधार पर इसका विवेचन किया ही नहीं जा सकता और यदि बाह्य लक्षणों के आधार पर कुछ कहने का प्रयत्न किया भी जाय तो उससे ऐसे हास्यास्पद परिणाम निकलेंगे, जिनकी प्राय: नयी कविता के बारे में चर्चा की जाती है। अत: नयी मनोवृत्ति के पाठक को यह संस्कार इन कविताओं से मिल सकेगा, जिससे वे इस कोटि की उत्कृष्ट रचनाओं के भावबोध के गहन स्तरों तक पहुँच सकें और पुन: नये कवियों की सम्भावनाओं तथा उपलब्धियों की खोज इन्हीं पाठकों (आलोचकों) की संवेदनशीलता के आधार पर हो सकेगी। वस्तुत: यह स्थिति अन्योन्याश्रित है।

परछाइयाँ

एक शाम को
किताबों, छोटी-छोटी मेज़ों,
मूर्तियों, तस्वीरों और कुर्सियों के बीच
मैं चुपचाप बैठा था!
बर्फ़ की चोटी-सा मेरा बोध—
पिघल जाने को तैयार था;
हल्के तूफ़ान-सी मेरी चेतना—
थम जाने को तैयार थी,
यदि इनमें केवल मिल पाये
यदि इनमें केवल खो पाए!
पर इतने रंगों के बीच

और इतनी गहराइयों के सामने
हर कोशिश बेकार थी,
हारे-थके मन से मैंने
हाथ बढ़ा बत्ती जला दी!
कमरा परछाइयों से भर गया,
कितने ही आकार
फ़र्श और दीवाल पर फैल गए!
उनमें मैंने पहचाना
किताबों, छोटी-छोटी मेज़ों,
मूर्तियों, तस्वीरों और कुर्सियों को
और आँखों ने यह भी देखा
सब के रंग एक थे
सबकी गहराइयाँ एक थीं
और मेरी परछाईं भी
उन्हीं में से एक थी!

.... के प्रति

पजामे में नाड़ा नहीं है,
गन्दा कहीं और लोहा नहीं है,
बटनों के बिना कुर्ता पड़ा है,
खोजता हूँ कुछ मिलता नहीं है,
तुम खीझ कहतीं, 'मुन्नी रो रही,
ढूँढ़ लो, इस समय फुरसत नहीं है।'
कमरे में जब अकेले ऊब जाता हूँ,
दो बात करने के लिए मन को बढ़ाता हूँ,
तब पास की कुर्सी से अख़बार हटा,
नाम लेकर प्यार से तुमको बुलाता हूँ,
व्यस्त चेहरा हाथ भीगे पास आती हो!
बेकार बैठा देख बस डाँट जाती हो,
यूँ ही दिन गुज़रता है औ' रात आती है,
थकन से चूर गुमसुम लेट जाता हूँ,

'अब तो काम निबटेगा', मन में बात आती है,
तुम्हारी खाट को सरका अपनी से सटाता हूँ,
सदियों बाद तुम्हारे लेटने की आवाज आती है,
गिरे न—इसलिये मुन्नी को अपनी ओर पाता हूँ!

स्वीकृति

हर ईमानदारी का काम करने के बाद
मुझे लगा है कि मैं ठगा गया हूँ
हर मरीज़ की तीमारदारी के बाद
जैसे स्वयं कुछ बीमार पड़ा हूँ
प्रत्येक अन्धे को सड़क पार करवाने के बाद
कुछ अनिश्चित सी लगी है मुझे अपनी राह
सर्दी में बढ़े भिखमंगे के गले हाथों को
अपनी हथेलियों में दबा मुझे ख़ाली लगी है अपनी जेब
नक़ली जीनियसों के बीच जो अकेले हैं
उनका साथ देकर मुझे निराशा हुई है
हर अच्छा काम करने के बाद जैसे मैं कुछ असफल हुआ हूँ
लोग ईर्ष्या करते हैं अब तक कैसे मैं बिना गर्व के जिया हूँ।

इस बार

मैंने सोचा
लाओ प्रयोग करूँ, इसीलिए
तीन दिन हो गए
बिना खाए पिए, वरना
अब तक मैंने
जो चाहा होता
खाया होता कौन रोकता मुझे?
यह जो आज मैंने इतने कम कपड़े
पहन रक्खे हैं, इसका भी कारण है
बहुत दिन पहले मेरी माँ ने
एक जोड़ी दस्ताने बुने थे
सोचा आज पहनूँ
साथ में और बहुत से कपड़े भी

पहन लेता तो कौन देखता इन्हें?
और घूमना तो मुझे बेहद पसन्द है
पैदल ही दस कोस चल कर आया हूँ
पर यह लो
सब दूकानें बन्द हो गयीं, वरना
मैं न जाने क्या-क्या
ख़रीदता!

अभागा

एक घटना में
एक दुर्घटना में
दर्द का आयाम बढ़ जाता है
उस दर्शक को मिला लेने से
जो कहीं का ठुकराया
किसी अनहोनी की खोज में
नदियों के भीगे किनारों पर
नंगी सड़कों की लम्बी-लम्बी डालों पर
मारा-मारा फिरता
किसी निश्चय पर पहुँच गया हो!
जो जीवन को छूकर
बहुत पास से देखने को आतुर
तमाम किताबें पढ़ने के बाद
एक नयी रचना करने के लिए
पेपरवेट के अन्दर से निकला हो!
जो टूटी कुर्सियों और
ख़ाली अल्मारियों से ऊब
अपनी क़लम सफेद कपड़े में लपेट
बाँहों पर टिका वीरान वादी की ओर
निकला सहसा चौराहे पर सहमा हो!
एक घटना में
एक दुर्घटना में
दर्द का आयाम बढ़ जाता है

उस दर्शक को मिला लेने से
जो अभागा हो!

प्रतिक्रिया

शहर में
एक सड़क कुछ दूर चल कर
ख़त्म हो गई
लोग आते गये
भीड़ बढ़ती गई
सब सड़कें, जो उधर जाती थीं
भर गईं, किसी ने कुछ पूछा नहीं
हर व्यक्ति अपनी जगह चुपचाप खड़ा
अख़बार के आने की प्रतीक्षा करने लगा!

कुछ देर बाद
वायुयान से अख़बार की प्रतियाँ
बाँटी गईं, जिनमें भीड़ की
बहुत-सी तस्वीरें छपी थीं
और लिखा था कि शहर के
पिछले पचास वर्षों के इतिहास में
पहली बार सड़कों पर
इतनी भीड़ पाई गई
लोग अपना-अपना अख़बार ले
घरों में वापिस चले गये
दूसरे दिन सुबह के
अख़बार से मालूम कर
कि भीड़ छट गई है
वे फिर निकले और दुबारा
वही सड़क कुछ दूर चलकर
ख़त्म हो गई
लोग आते गए
भीड़ बढ़ती गई
सब सड़कें, जो उधर जाती थीं

भर गईं, किसी ने कुछ पूछा नहीं
हर व्यक्ति अपनी जगह चुपचाप खड़ा
अख़बार के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

एक आत्म-कथन

वह मुझे एक बहुत बड़े काफ़ी-हाउस में ले गई
जहाँ गोल चीनी के बर्तनों की भरमार थी
वृत्तों से मर्यादित सात समुन्दरों की दुनियाँ थी
उनके बीच मेरा समतलपन देख
उसने मेरे दोनों हाथों को अपने दोनों हाथों में ले लिया।

वह मुझे एक बहुत बड़े मेले में ले गई
जहाँ सब खुश थे, सबको बड़ा मज़ा आ रहा था
कोई झूल रहा था, कोई गा रहा था, कोई कुछ खा रहा था
वहाँ मुझे ख़ाली हाथ देख
उसने अपनी दृष्टि में मुझे बाँध हल्के से चूम लिया

वह मुझे एक सजे-सजाए कमरे में ले गई
जहाँ कुर्सियाँ थीं, मेज़ें थीं, और उसकी प्रिय
कुत्तों की नस्लें और नीली-पीली बिल्लियाँ थीं
उनके बीच मुझे परेशान देख
उसने वहाँ मुझे रुकने के लिये अपनी दो टाँगें उधार दे दीं।
इसी को सच समझे
तबसे मैं कहीं गया नहीं
यहीं पड़ा हूँ!

स्थिति

पतझड़ की दोपहरी
आग की लपटों-से पेड़
और मेरी आँखों में
केवल दो बूँद पानी
जिन्हें पीना गुनाह लगता है!
ठंडी रसोई

स्वेटर की बुनाई में
बहुत-से ग़लत फन्दे
यह रोज़-रोज़ की इन्तज़ारी
से कितना डर लगता है!
मान लो, पेड़ ऐसे ही रह गए
सड़क चली ही नहीं
तब मेरा क्या होगा
प्रतीक्षा के चित्र-सी
मैं और मेरा आस-पास
कौन ख़रीदेगा
मेरे रचयिता
मुझे प्रदर्शिनी में टाँगना मत
मैं तुम्हारी गृहस्थी हूँ!

एक स्वप्न

बड़े आत्म-विश्वास के साथ
हाथ में टेबिल-लैम्प उठाए
किसी का घर ढूँढ़ता हुआ
एक आदमी इस नगर में आया
और चौराहे पर रुक गया
घड़ी में सुबह दो का गजर ठनका
हर मकान उठ अपने पते की ओर खिसका
आगन्तुक अपना लाल चेहरा लैम्प के हुड में छुपा
लेटर-बक्स बन अपनी जगह जड़ हो गया!

आत्म-बोध

दूर दूर तक पत्तियाँ
टूटती देख, डालें
अपने-अपने अन्दर का राग
सुनने में मग्न हो गईं
क्षितिज का दायरा कुछ बढ़ गया
जैसे किसी माँ ने बिछड़े हुए
पुत्र की याद में उसके मित्रों को

अपनी गोद में ले लिया हो
ज़मीन पर पड़ी सुनहरी पत्तियाँ
उड़कर हर आगन्तुक के क़दमों
के नीचे आने लगीं।
मूछों वाले पोस्टमैन ने
मुझे झुककर सलाम किया
मानों रोज़ ही मेरी
रजिस्टर्ड चिट्ठियाँ आती हों
और मैं अनमना-सा
बाहर कुर्सी डाले बैठा रहा
और देखता रहा
अपनी नई कमीज़ की
एक छोटी और एक बड़ी बाँह को
महसूस करता रहा
मरम्मत किए हुए
एक ढीले और एक कसे जूते को
सोचता रहा, उन सभी फूलों के रंग
जिन्हें इस मौसम में खिलना चाहिये
उन सभी देशों की स्थितियाँ
जिन्हें लड़ना अब बन्द करना चाहिये
इन्टरव्यू में कोई मेरा नाम पूछे
तो मुझे क्या उत्तर देना चाहिये
क्रासवर्ड पहेली की तीसरी पंक्ति में
बाएँ से दाएँ कौन-सा शब्द होना चाहिये।
लगता है, अपनी राशि मालूम करनी होगी
अब एक नीलम की अँगूठी खरीदनी होगी
नहीं तो मुझे भी
अपने अन्दर के संगीत में
ढूँढ़ना पड़ेगा
मुक्ति का क्षण!
सोचना पड़ेगा
कितना बाहर आ गया हूँ

बढ़े हुए दायरे से!
कितनी लम्बी कर चुका हूँ
कुचल कर
अपनी ही परछाईं?

एक संस्कृति की मौत

श्री अनुज ने अपने ड्राइंग रूम की
सब किताबें दुबारा पढ़ डालीं और फिर
अपनी प्रिय से विवाह का निश्चय कर
उन्हें गिनकर झाड़ने और पोछने लगे!

दिन भर काम करने के बाद
ऋतुराज क़ानून से ऊबकर
मेज़ पर पैर फैला अपना रेडियो
पड़ोसी का ध्यान रख धीमी आवाज़ में सुनने लगे!

कुमार संभव को मस्ती का दौरा आया
टेलिफ़ोन से दो सीटें एक थिएटर और
एक बड़े रेस्त्राँ में अपने नाम रिज़र्व कर
तिजोरी में चाभी घुमा हैन्डिल टेस्ट कर गद्दी से उठे!

तीन व्यक्ति अजीब कपड़े पहने
काफ़ी-हाउस में घुसे और एक कोने में बैठकर
भविष्य के इतिहास पर असहमत होते रहे, अन्त में
बिल चुका बेरे के प्रति कृतज्ञ हो अपनी-अपनी मुक्ति महसूस कर
अलग हुए!

शहर के म्यूज़ियम में
भूसे से भरे जानवरों ने हँसकर एक दूसरे को देखा
चित्रों ने अपना मुँह दीवारों की ओर मोड़ लिया
दरबान के फाटक बन्द करते ही मन्दिरों के द्वार अपने-आप खुल
गए!

बड़े विश्वास के साथ
परमात्मा ने स्वर्ग में
एक और आत्मा पर
पुरातत्व-विभाग के अध्यक्ष की मोहर लगा दी!

29वीं वर्षगाँठ पर

मैं किसी को अपना दुश्मन नहीं मानता
हर राह चलते को गले लगाकर उससे
घंटों बात करने में विश्वास करता हूँ
हर चेहरा, जो मैंने देखा है एक बार
मुझे याद है, अभिनेत्रियों तक से प्यार करता हूँ
मैं अपने तमाम पैसे रोज़ मज़दूरी करने वालों को
अपनी बहुमूल्य पुस्तकें इम्तहान में बैठने वालों को
बाँट देने के लिये सदा तैयार हूँ
पर कहाँ से और किससे आरम्भ करूँ
कैसे बात छेड़ूँ कि कोई बुरा न मान जाए
मेरे एकाकीपन की लम्बी अवधि में पता नहीं
दो आदमियों के बीच की तहज़ीब
बदल गयी है कितनी!

एक अंधी लड़की के प्रति

बहुत धीमे से
उसके हाथों को अपने हाथों
में ले मैंने सीढ़ियाँ उतरने में
सहायता की थी और वह चुप
मेरी बात मान गई थी, आत्मविभोर
हो मैंने उसे फिर अपने-आप
जाने दिया था, हथेलियाँ
उँगलियों को छूती हुई अलग हुई थीं
और मैं अपने हाथ को शर्माते हुए
देख रहा था कि वह सहसा सामने की
दीवार से जाकर टकरा गई, तभी से
यूँ ही निकल जाने दिया मैंने
अपनी यादगारें जमा करने के दिनों को!

पथिक, पुल और गुनगुनाती नदी

अभी दूर है....
सड़क के दोनों ओर
बढ़ते ढाल, पेड़ों की घटती पाँत
तुम भी तो उसके अंग हो
कहो, कहाँ है वह....?

सो रहा होगा कहीं
इस रात के कुहरे में छुपा
थका-सा, बाँहों में लपेटे
अपनी प्रिय को
जो सब दिन अपनी शीतलता से
कितनों के पापों को धो के
अब तप रही है
ढूँढ़ते हो उसे तुम क्यों?
क्या तुम भी अभिशप्त हो
एक रात और अपना भार
सहने में असमर्थ हो?
तो सुनो, जहाँ हमारा अन्त है
वहाँ है वह....!

हाँ, मुझे कुछ सुन पड़ रहा है
उठते पथ के अन्त में
कुछ दिख रहा है
बिल्कुल पास हूँ मैं
एक पग और....!
रुको, ओ पथिक रुको
पहले इस सेठ को गुज़र जाने दो
फिर इस अन्धे भिखारी को
और फिर पीछे से आती, भरी बस को
ये सब बहुत हल्के हैं
बीच में खड़े होने का इन्हें भय है
पार जाना है, इन्हें जाने दो!

पर तुम जो व्यथा से मारी
भय से मुक्त, अभिशप्त हो
इस छोर पर खड़े-खड़े
कोलाहल से इतनी देर बाद उबरी
नदी की कलकल और
पुल की दृढ़ हँसी सुनो
यदि सच में तुमने दर्द सहा है
यह अगला पग मत लो!
नहीं उठाऊँगा मैं यह क़दम
इतनी दूर आकर
लो, मैं वापिस लौटता हूँ
पर अब जानता हूँ मेरे पीछे
जहाँ ढाल और पेड़ों का अन्त है
एक गुनगुनाती नदी और
एक हँसता हुआ पुल है!

इस युग के दावेदार
संशय का उदय

मैं : घेरा है मुझे
शिक्षकों
चित्रकारों और
वैज्ञानिकों ने
लड़ूँगा कैसे इनसे
बस के पहिये-सा
अस्त्र मेरा कुंठित है
लगता है
अब इनके हाथों
मेरा परिवर्तन
निश्चित है।

संशय : निश्चित नहीं है, कुछ भी यहाँ
तुमने विज्ञापन को सच समझा है

झूठा निकला है
इस युग में जिसने जो कहा है।
श्री बंकिम ने राजमंत्री बनते ही
पेड़ पर सड़क खुदवाई
मोटर पर बैठ ऊपर चढ़े
और डाल के फल तोड़ खाने लगे।
श्री और श्रीमती नागर के जुड़वाँ पुत्र हुए
बड़ी आशाएँ दे बड़े हुए, उनमें से
एक बँटवारा कर अलग हो गए
और दूसरे कुमारी मयंक से विवाह कर
डॉ० प्रकाश के लक्ष्य-भेदी यान पर बैठकर
चाँद को चले गए, जहाँ आज तक पहुँचे नहीं।
कौन-से अपवाद हैं ये
शिक्षक
चित्रकार और
वैज्ञानिक
यही तो
शासक हैं
अगली पीढ़ी हैं
नियोग के कारण हैं।

मैं : विश्वास नहीं होता
चलो पूछें किसी
सम्मतिदाता से

श्रीराम वर्मा की कविताएँ

(लक्ष्मीकान्त वर्मा)

श्रीराम वर्मा हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिनके पास नयी कविता की सम्पूर्ण शब्दावली, छन्द-विधान, प्रतीक-योजना और काव्य-बोध मौजूद है। लेकिन उसी के साथ वे ऐसे कवि भी हैं जिनके पास अपनी वयस के अनुकूल संदिग्धता और व्यंग्य अपने यथार्थ रूप में मौजूद है। एक प्रकार से देखा जाय तो श्रीराम वर्मा उन दो सन्धियों के कवि हैं जिनमें नयी कविता की अपराजेय विवशता की स्थिति भी है, लेकिन जो धीरे-धीरे असम्पृक्त ठंढी उदासीनता में ढल कर अत्याधुनिक भाव-चेतना को व्यक्त करने के लिए जूझ भी रही है। एक दृष्टि से देखा जाय तो श्रीराम वर्मा सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की सम्पूर्ण अतिरंजित भावुकता के सीधे उत्तराधिकारी भी हैं, लेकिन उसी के साथ-साथ यह भी स्पष्ट दीख पड़ता है कि वह उससे आगे उस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं जिसका प्रतिनिधित्व रघुवीर सहाय, विपिन अग्रवाल और राजकमल चौधरी करते हैं। यही कारण है कि उनकी कविताओं को पढ़ते-पढ़ते ऐसा लगने लगता है कि जैसे वह सारा चितकबरापन जो उनकी रचनाओं में मिलता है वह इस बात को व्यक्त करता है कि एक साथ तीन प्रकार की मन:स्थितियाँ और दिमाग़ी फ़र्क़ों से जूझने वाले इस कवि को अब भी अपनी निश्चित दिशा प्राप्त नहीं हुई। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि श्रीराम वर्मा एक अक्षम कवि हैं, बल्कि इसके विपरीत ऐसा लगता है कि वह इन समस्त जटिलताओं का साक्षात्कार करके उसकी अभिव्यक्ति का साधन जुटा रहे हैं। दूसरे शब्दों में श्रीराम वर्मा उस सन्धि-काल के कवि हैं जिसमें एक नितान्त रागात्मक ऐश्वर्य मजबूर होकर ठंडी प्रक्रिया में संलग्न है।

श्रीराम वर्मा की कविताओं को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) प्रतिष्ठित नयी कविता का स्वर, (2) समूचे परिवेश की गोद से आक्रान्त व्यक्तित्व का अकर्मण्य आक्रोश, (3) सम्पूर्ण परिवेश से तटस्थ वस्तुपरक स्वर। इन तीनों भाव-स्थितियों के बीच से जो व्यक्तित्व तेजी के साथ ठंडेपन और कुछ तीव्रतम बौद्धिक संयोजना की ओर बढ़ रहा है वह कहीं न कहीं एक करुणाविगलित व्यक्तित्व भी है जो अभी स्थिर नहीं हो पाया है जिसके कारण उसकी आँखों के सामने कुछ पुराने दिवा-स्वप्नों के टुकड़े हैं, कुछ निजी आत्मपरक व्यंजनाएँ और कहीं ऐसा कि समूची भीड़ से सहसा अपने को अलग करके भीड़ पर टीका करने वाला व्यक्तित्व लगे।

जहाँ श्रीराम वर्मा रागात्मक ऐश्वर्य और उसकी परम्परागत रूढ़ियों से सम्पृक्त होते हैं वहाँ उनकी भाषा, उनकी शैली और उनकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति एक रूढ़ि बन कर रह जाती है। जैसे—

अखंड

केवल हाथ भर हूँ
मैं : अजन्ता का खंड-चित्र :
भूखे पेट को भरने का
अंधाधुन्ध साधन भर
गर्वोन्नत मस्तक नहीं।
हाथ भर हूँ मैं
जो थप्पड़ न मारे
न उद्यत हो लोहा लेने को
फिर भी मैं
खंड नहीं हूँ
एक अखंड इकाई
मुझमें जाग रही है।

इस पूरी कविता में जिस प्रकार अजन्ता के खंड-चित्रों को भूखे पेट और अखंड इकाई के भावों को एक साथ जोड़कर 'गर्वोन्नत मस्तक नहीं' में गर्वोन्नत होने की पीड़ा और 'न उद्यत हो लोहा लेने को' में लोहा लेने की इच्छा व्याप्त है और इकाई के सम्पूर्णत्व को एक बाह्य मानदण्ड से सम्बद्ध करके न होने में भी होने की सम्भावना प्रतिष्ठित की गई है, वह नयी कविता की प्रचलित रूढ़ि से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। इस प्रकार की कविताओं में यह स्पष्ट दीखता है कि न केवल शब्दावली और उसके विभिन्न मुहावरों में ही श्रीराम ऐश्वर्य की महत्ता में डूबते-इतराते हैं वरन् वह अज्ञेय की उस करुणा के भी समर्थक हैं जो अपनी पूरी रोमानियत के साथ अनुभूति की प्रामाणिकता केवल मुद्राओं में व्यंजित करते हैं। जैसे :

साँझ तुम

तुम एक साँझ हो।
सूर्य है मेरा दुखता माथा
तुम्हारी कोख में।
पंखों से कब तक झलोगी?
नरम है न
तुम्हारी नदी की कलाई
लो, मुझे बालों में खोंस लो

बंद कर लो खिड़की

कहीं कोई देख न ले।

यह सही है कि इन कविताओं में भी श्रीराम वर्मा का कवि एक ओर तो परम्परागत परिनिष्ठित की भाषा के और भाव-रूढ़ियों के बन्धन से मुक्ति नहीं पाता, लेकिन साथ ही साथ उनकी सम्पूर्ण रागात्मक ऐश्वर्यवाली कविताओं में भी प्राय: यह झलक मिलती है कि जैसे ये उपकरण उन्हें एक ओर खींच कर ले जाने की चेष्टा में संलग्न हैं और उनका भीतरी मन उससे सदैव विस्थापित होकर किसी अन्य दिशा की ओर जा रहा है। इन तनाव की स्थितियों में श्रीराम वर्मा ने जो कविताएँ लिखी हैं उनका भी बड़ा महत्त्व है क्योंकि उन कविताओं में भाषा और भाव की टकराहट बड़े स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि उन परम्पराओं और रूढ़ियों ने कवि के समूचे व्यक्तित्व को आक्रान्त कर के निगल लिया है, इसी के साथ कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि कवि अपने वास्तविक संस्कारों को पहचान न सकने के कारण या उनके प्रति आत्म-विश्वास के अभाव में वह ग़लत फिसलन के साथ कहीं और जा पड़ा है। जैसे;

अनागत विधाता से

कीचड़ उछालो
मैं द्रवीभूत समर्पण का सरोवर हूँ
तरलायित नयन-सा
अपने सम्पूर्ण अहं से
धारूँगा अति विनम्र हो!
कीचड़ उछालो
क्योंकि तुम कंठ हो। अधर हो। शिराएँ हो।
क्योंकि मैं गीत हूँ। चुम्बन हूँ। लहू की धार हूँ।
कीचड़ उछालो
मैं तुम्हें
रन्ध्र-रन्ध्र से रस-स्निग्ध
कोमलतम कमल की परम्परा में
बदल दूँगा।

श्रीराम वर्मा की कविताओं में आत्म-दया को भी गौरवान्वित करके प्रस्तुत करने की क्षमता है, लेकिन उनके पास वे आभिजात्य संस्कार नहीं हैं जो किसी भी व्यक्ति को उसकी समस्त वेदना के साथ अद्वितीयता का बोध कराते हैं। वस्तुत: श्रीराम वर्मा मूलत: उस दोहरी चेतना के कवि हैं जो आभिजात्य को केवल इसलिए स्वीकार करता है क्योंकि इससे उसे प्रामाणिकता मिल जायेगी। कहने का सारांश यह है कि जिस

आभिजात्य से श्रीराम वर्मा आकृष्ट होते हैं, उनकी अनुभूति का मर्म इससे पृथक भाव-भूमि पर विकसित होता है। इसका यह मतलब नहीं कि श्रीराम वर्मा का कवि-व्यक्तित्व अक्षम है या वे स्वयं इसको ग्रहण नहीं करते। इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह है कि जिन तत्वों को लेकर श्रीराम वर्मा अपनी कविताएँ लिखते हैं वे अपने उपयुक्त भाषा-माध्यम को अपनाने में चूक जाते हैं। यह चीज़ प्रायः कवियों से हो जाती है और उनकी यह चूक स्वयं उनकी पकड़ में नहीं आ पाती। इसीलिए श्रीराम वर्मा की कुछ कविताओं को पहली बार पढ़ने पर यह स्पष्ट लगता है कि एक सशक्त परम्पराओं से घिरा हुआ कवि अपने भावों की अद्वितीयता को ज़बर्दस्ती गिरवी रख रहा है। फिर भी श्रीराम वर्मा इन यन्त्रणाओं से मुक्त इसलिए हो जाते हैं क्योंकि परम्परागत संश्लिष्ट शब्दावली में भी वे अपने भाव-स्तर के बिम्बों को बिना सजाये-सँवारे छोड़ देते हैं। यही कारण है कि अपने चारों ओर की सम्पूर्ण परिधियों से मुक्त होकर श्रीराम वर्मा ने विकास किया है और ऐसे प्रयोग भी किये हैं जिनका शिल्पगत महत्व है।

रागात्मक ऐश्वर्य की पहली शर्त अपनी बूँद भर करुणा को सागर के बराबर समझने और समझाने में है। अनुभूति की अद्वितीयता या साक्षात्कार के क्षण की अद्वितीयता या संरचना की प्रक्रिया में सर्वथा नये अनुभूति-क्षण की अद्वितीयता पीछे रह जाती है और वह बौद्धिक भावुकता सामने आ जाती है जो अनुभूति को या काल को या संरचना को अद्वितीय न बना कर केवल वातावरण को प्रधान बना देती है, शब्दों की ध्वनियों की अनुगूँज से अनुभूति को व्यंजित करना चाहती है, अनिर्वचनीय को बहुवचनीय के माध्यम से व्यंजित करती है। यह तभी होता है जब अनुभूतिविशेष या कालविशेष या संरचनाविशेष के मूलभूत यथार्थ से कवि अपरिचित हो। कहने का सारांश यह कि वह अनुभूति और अभिव्यक्ति में जो अनुपातात्मक सम्बन्ध है उसे खो देता है। श्रीराम वर्मा में भी ये कमजोरियाँ हैं, लेकिन अन्तर केवल इतना है कि जहाँ वह आत्म-दया से या आत्म-पीड़न से आक्रान्त होते हैं वहाँ उनके स्तर में अंकुरित अहं कल्पवृक्ष-सा नहीं लगता, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह अंकुरित अहं भी इसी पृथ्वी का है और यदि इसमें किसी कल्पवृक्ष की गहनता है तो वह कल्पवृक्ष के नाते निंद्य तो हो सकता है, लेकिन वह आरोपित नहीं है वरन् इसी मिट्टी से उपजा है जिससे कि उनका अहं।

रागात्मक ऐश्वर्य की दूसरी प्रकृति कभी-कभी विरोधी दिशाओं में भी व्यक्त होती है। जैसे यदि एक ओर कवि क्रियाओं की भाषा का प्रयोग अपने परिनिष्ठित अहं की प्रतिष्ठा के लिए करता है तो दूसरी ओर वह नितान्त लोक-शब्दों का चयन करने में भी इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होता है। श्रीराम वर्मा में भी यह प्रवृत्ति बराबर मिलती है। जहाँ एक ओर वह नितान्त गम्भीर भाषा का प्रयोग करते हैं वहीं वह नितान्त लोक-भाषा के शब्दों द्वारा उसी ऐश्वर्य को बौद्धिक अतिरंजना के साथ प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

विकास

परसों बकैयाँ
कल अँगुलियाँ-चरपाइयाँ
आज पैंयाँ-पैंयाँ—निरधार
कल सिकहर
परसों बानर-मुसहर
अतरसों अकास-फूल गलहार।

यद्यपि इसका विश्लेषण करना बहुत कठिन है कि कब और कैसे श्रीराम वर्मा दो प्रकार की भाषाओं के साथ रम लेते हैं और यह भी कि अज्ञेय की शैली से वह किन अर्थों में भिन्न हैं। फिर भी थोड़ा ध्यान देकर देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञेय में प्रयुक्त भाषा स्तर के परिवर्तन केवल शिल्पगत गठन के नाते हैं और ऐसा नहीं लगता कि वे शब्द् स्वत: अनुभूति की अनिवार्यता है। श्रीराम वर्मा इस अर्थ में अवश्य भिन्न हैं कि स्वत: अपने आप विकसित होने वाली उनकी भाषा नितान्त ओढ़ी हुई नहीं होती और न ही शिल्पगत अनिवार्यता की अभिव्यंजना होती है, कहीं न कहीं अनुभूति के स्तर की अनिवार्यता से भी संबद्ध रहती है। इसी अर्थ में काफ़ी हद तक उनकी इस प्रकार की विकृतियाँ क्षमित हो जाती हैं।

रागात्मक ऐश्वर्य की एक तीसरी प्रकृति उन महिमामंडित मुद्राओं में है जो उदात्त विनि:स्पृहता को एक नया अर्थ देकर चेतन साक्षी के रूप में प्रस्तुत करती है। लेकिन उदात्त की अनुभूति के समक्ष चेतना की समग्रता और उसकी जागरुकता के प्रति अवस्थित होने में महिमा से आरोपित हो जाना साधारण से असाधारण की ओर जाना है अथवा सामान्य से कट कर असामान्य होना है। यह प्रकृति गम्भीर रोमानी भावुकता में भी व्यक्त हो सकती है और नितान्त यथार्थवादी 'हारर', 'टेरर' की मुद्रा में भी व्यक्त हो सकती है। जिन उदात्त क्षणों में अज्ञेय नितान्त असाधारण और महिमा-मंडित होकर व्यंजित करते हैं और मुक्तिबोध 'हारर', 'टेरर' के माध्यम से व्यक्त करते हैं वहाँ श्रीराम वर्मा इन दोनों से बच तो जाते हैं किंतु करुणा की आर्द्रता से भींगी हुई इनकी भावुकता भी उसी रागात्मक ऐश्वर्य का एक प्रकाश बन कर व्यक्त होती है। जैसे :

मोर

ओ बादल
[चाहे तुम जो भी हो—]
दाता हो पानी के
[बिन पानी सब सून]
इसीलिए ओ बादल
तुम सब कुछ हो, प्रभु से बड़े
पराये नहीं हमारे।

ये लो अतिरिक्त विनम्र समर्पण
ले लो यह पद-गति-लय में बद्ध
नृत्यमय अयुत समर्पण
[चरणों पर चुम्बन, चुम्बन, चुम्बन]

श्रीराम वर्मा की प्रकृति में यह सहजता है कि वह सामान्य को विशिष्ट बनाते हुए भी सामान्य के धरातल को सुरक्षित रखते हैं लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस प्रयास में वह नितान्त दैनन्दिन को काव्यगत सम्पन्नता के साथ विशिष्ट बनाने में बचकाने लगने लगते हैं जैसे इस कविता में उनकी असफलता स्पष्ट है :

स्मृति-चेत

बबूलघिरी जल-खंडी
छपक् : मछली
तड़प सहसा
गड़ गयी है आँख
अपलक आँख में :
हाय रे, काजल लजाती बरुनियाँ
हँस रही हैं तिमिरतीरे दूरियाँ

नयी कविता की प्रतिष्ठित शैली और उसके शिल्प से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण श्रीराम वर्मा की शब्द-योजना, बिम्ब-योजना और पौराणिक प्रतीकों का प्रयोग काफ़ी समय तक एक रूढ़ रूप में होता रहा, लेकिन जिस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व श्रीराम वर्मा करते हैं उसकी पीड़ा, वेदना और उस पीढ़ी में व्याप्त अर्थहीनता का बोध उनके न चाहने पर भी उनकी रचनाओं में व्यक्त होता है। 'चक्रव्यूह' से लेकर 'शब्दों की शताब्दी' तक की सम्पूर्ण रचनाओं में श्रीराम का व्यक्तित्व परिनिष्ठित और नितान्त अपरिनिष्ठित की दुविधा में भटकता हुआ लगता है। जितना कुछ अपरिनिष्ठित, अपरम्परित और नितान्त अपरिचित इनकी कविताओं में मिलता है वह सद्यः इनकी अनुभूति के स्रोत से निकला हुआ होते हुए भी ऐसा लगता है जैसे वह कवि की अपनी मजबूरी है, उसकी स्वविकल्पित निष्ठा नहीं। इसीलिए श्रीराम वर्मा का पूरा कवि-व्यक्तित्व एक प्रकार से शंकित व्यक्तित्व है और उनकी सारी भाव-व्यंजना एक स्तर पर आकर ऐसी अकर्मण्यता का परिचय देती है कि वह अवांछित संतान की तरह उनसे चिपकी रहती है। अस्तु—

जीवन-दंश

पैरों के नीचे मसान है आजकल
पढ़ता रहता हूँ नदियाँ, वनानियाँ
हिम होते फूल और आकाशवाणियाँ

पाता हूँ हर जगह भेड़ियाधसान
पैरों के नीचे मसान
वहाँ क्यों जाऊँ
जहाँ न रेत है न जीवन
सिर्फ़ हिरन की खुरोद्धत धूल है
धूल में प-हाड़
पहाड़ पर ईसा के उपदेश
साक्ष्य के लिए
शताब्दियों के थप्पड़ क्यों खाऊँ
व्यर्थ अजायबघरों में
प्रदर्शन क्यों बनूँ
व्यर्थ बिकूँ, बिक जाऊँ।

उपर्युक्त कविता में यह स्पष्ट है कि पैरों के नीचे मसान का बोध और धूल में पहाड़ और पहाड़ पर ईसा के उपदेश के व्यंग्य में जिस जीवन-दंश का साक्षात्कार श्रीराम वर्मा करते हैं उससे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह एक ऐसी व्यर्थता है जिसमें उनका सारा आक्रोश एक अकर्मण्य की तटस्थता बन कर मौन हो जाता है। इसी भाव की अभिव्यक्ति उनकी 'व्याकरण' शीर्षक कविता में भी व्यक्त हुई है जिसमें एक प्रश्नवाचक मुद्रा में संज्ञाओं के सर्वनाम हो जाने पर भी वह विशेषण के प्रति जिज्ञासु प्रतीत होते हैं और चीख कर कह देते हैं और

तो क्या
क्रियाओं और क्रियाओं के बीच
प्रेरणार्थक क्रियाएँ नहीं होंगी—

जैसा सवाल अपने आपसे पूछने लगते हैं। उनको आश्चर्य होता है जब उनकी जिज्ञासा यह देखती है :—

ईसप और पंचतंत्र की कहानियाँ
ये बच्चे अब नहीं पढ़ते

× ×

तथागत, क्या बात है
समुद्रों में बादल अब उतने नहीं बनते

इसी भावना की अभिव्यक्ति उनकी 'प्रेम' शीर्षक कविता में (प्रेम के परम्परित और वर्तमान वस्तु-स्थिति की व्यस्तता पर व्यंग्य करती हुई ये पंक्तियाँ) हैं :

कितने मधुर हो प्रेम
गिलहरी की तरह
हमें हर तरह
कुतरते रहे

यह जिज्ञासा, यह विरोधाभासों का बोध और अपनी वस्तु-स्थिति के प्रति निराशा उन्हें कभी-कभी आत्महीनता (Self-pity) की ओर प्रेरित करती है तो कहीं उनको अन्तर्मुखी बनाकर एक नपुंसक की आक्रोशमयी वाणी द्वारा विचित्र फैण्टेसीज़ की ओर ले जाती है और वह चीख कर यह विज्ञापित करना चाहते हैं कि वह निष्क्रिय नहीं है, और उनमें एक 'समर्पित ध्रुवत्व' है, जो 'अन्तरंग ध्वनियों के बीच' अपने को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते निम्नलिखित दिवा-स्वप्न की ओर उन्हें प्रेरित करता है :

मेरा, मेरापन स्थिर होने से पूर्व ही
जल-सा गतिमय
लहराने लगे

यही मन:स्थिति और यही आक्रोश उन्हें जिन 'जल-मुकुट कमल', 'पानी के तोते', के छलावे में 'फ़ालसई जिह्वा' और 'चम्पई प्रज्ञा' के बीच 'पुरइन के हरे जुगनू' जैसी नितान्त व्यंग्य की स्थिति में स्थिर करके यह कहने पर मजबूर करता है :

जोंक बनते
देर
अयि, लगती नहीं

श्रीराम वर्मा के अकर्मण्य आक्रोश का प्रमाण उन कविताओं से अधिक मिलता है जिनमें आधुनिक युग के टूटते परिवार में सामन्ती युग के सम्बन्धों की रागात्मकता उनके विचार और व्यक्तित्व को कचोटती है। संस्कार से सामंती किंतु परिस्थिति से आधुनिक की विवशताओं के बीच श्रीराम वर्मा के स्वकथन-रूप में कुछ वक्तव्य विचारणीय हैं। इसी प्रकार श्रीराम वर्मा की वे कविताएँ जो उन्होंने भारत-पाक युद्ध से सम्बंधित लिखी हैं उनकी अकर्मण्यता को व्यक्त करती है :

मैं उद्घोषित करता हूँ :
पृथ्वी बूचड़खाना नहीं है मेरे सगो
हड्डियों का वाद्य और रक्त का संगीत
अगर सुनने लगे राब्सन के श्रोता बीथोवेन
बेचारे फिर बहरे हो जायेंगे।

श्रीराम वर्मा की इस मानसिक स्थिति के विश्लेषण में हमें उस युग विशेष का चित्र मिलता है जिसमें एक टूटती हुई व्यवस्था और उभरती हुई अराजकता के बीच नये मान-मूल्य अपनी सहज चेतना से अँगड़ाई लेते हुए प्रतीत होते हैं। श्रीराम वर्मा की

कविताओं में जो आक्रोश व्यक्त हुआ है वह नया इसलिए नहीं है कि पिछले बीस वर्षों में प्रत्येक रचनाशील व्यक्तित्व के सामने यह स्थिति वर्तमान रही है और यह इतिहास के उस दौर की विषमता है जिसमें हम चाहते हुए भी न तो इतिहास की गति को तीव्र करके इस संक्रमण से मुक्ति पा सकते हैं और न उसके प्रति अनावश्यक राग अथवा विराग की दृष्टि पैदा करके ही अपने को मूल्य-बद्ध कर सकते हैं। इसीलिए आज की चेतना में वे तीनों स्थितियाँ निरर्थक मालूम होती हैं जो इतिहास-चक्र को अधिक गतिमान बनाने में प्रयत्नशील हैं या जो दुविधा में अकर्मण्य आक्रोश से ओत-प्रोत हैं या वे जो इस स्थिरता के ही समर्थक हैं। इतिहास-चक्र को अधिक गतिशील बनाने की भावना भी अन्ततोगत्वा उतनी ही साहसिक है जितनी कि उसके प्रति आक्रोश करना या उसके प्रति मोह से द्रवित होकर चिपके रहना। आज की आधुनिक संवेदना यह माँग करती है कि हम इतिहास की इस प्रक्रिया के प्रति एक प्रकार की क्रियाशील उदासीनता (Active indifference) के साथ निराशा के उस दार्शनिक चिन्तन को स्वीकार करें जो हमें एक प्रकार की अनासक्त आसक्ति के साथ इन स्थितियों के प्रति क्रियाशील भी बनाये और साथ ही इन रोमानी दृष्टियों से बचाये जो यथार्थ की वस्तु-निष्ठा को अतिरंजित करती है।

इस दृष्टि से श्रीराम वर्मा की रचना-प्रक्रिया में एक विचित्र स्थिति मिलती है जिसमें स्वीकृति और अस्वीकृति, दोनों का समावेश रचनाकार की विवशता बनकर व्यंजित हुआ है। जहाँ तक कलात्मक पक्ष का अंश है, यह विवशता की स्थिति कभी भी कला-दृष्टि से अच्छी स्थिति नहीं मानी जाती क्योंकि इसमें वह नि:संगता नहीं आती है जो कि किसी भी कलाकृति के लिए अपेक्षित है। श्रीराम वर्मा का दूसरा दौर इसी संकट से जूझने की प्रक्रिया व्यक्त करता है और इसीलिए कहीं उनकी भाषा नितान्त मोहजनित होने के कारण कालिदास और भवभूति से अभिभूत है तो दूसरी ओर उसमें रघुवीर सहाय, विपिन अग्रवाल और भवानीप्रसाद मिश्र की गद्यनुमा भाषा का अवशेष है। यही कारण है कि जब वह अज्ञेय के विषय को अपना विषय बना कर लिखने की चेष्टा करते हैं तो अज्ञेय उनसे छूट जाते हैं और कालिदास की उपमा, भवभूति की करुणा तो उनके हाथ लगती है, लेकिन अज्ञेय की अहंनिष्ठ दृष्टि को वह पकड़ने में असमर्थ हो जाते हैं। दूसरी ओर जब वह गम्भीरता के साथ विपिन अग्रवाल, रघुवीर सहाय की भाषा के माध्यम से आधुनिक भावबोध के निकट उसके व्यंग्य को व्यंजित करना चाहते हैं तो प्राय: उनकी सारी व्यंग्य-रंजना एक हास्य-रंजित भाव-स्थिति बन कर रह जाती है। मैं इस निष्कर्ष पर इसलिए पहुँचा कि श्रीराम वर्मा में यह दोनों प्रवृत्तियाँ एक साथ विद्यमान हैं। अन्तर केवल इतना है कि कालिदास की भाषा जहाँ एक क्लैसिकल ठंडेपन की ओर ले जाती है वहीं श्रीराम की भाषा और शैली एक ऐसे आक्रोश की ओर ले जाती है जिसमें एक थके-हारे मन का आक्रोश व्यंजित होता है। जिन सामान्य स्थितियों से प्रेरित होकर उसकी ओर विपिन और रघुवीर सहाय ले जाते हैं वहीं उन्हीं सामान्य स्थितियों के माध्यम से श्रीराम हमें एक

हास्यास्पद दुविधा में डाल कर छोड़ देते हैं। अस्तु, निम्नलिखित कविता की पंक्तियाँ देखिए—

दूध की जगह खून
गिरे तो गिरे
मगर दुहेंगे ज़रूर
ताकि साँप और साँपकाटे
दोनों को बराबर-बराबर
बाँट सकें
जिससे धाँय-धाँय, हाय-हाय
बंद हो जाय
और नाखून से भी नहीं
खुर और पूँछ से इतिहास लिखा जाय!

उपर्युक्त कविता को पढ़ने से केवल एक स्थिति का बोध होता है, लेकिन उसकी अर्थहीनता (Absurdity) हमें केवल एक निष्क्रिय अर्थवत्ता के प्रति संदिग्ध करके छोड़ देती है और इस कविता में प्रयुक्त नाखून, खुर और पूँछ केवल अपनी स्थूलता ही दे पाते हैं और वह सूक्ष्म संवेदना नहीं दे पाते जिसमें यह लगे कि एक नि:संदर्भ वस्तु को वह संदर्भ की गरिमा से मण्डित करना चाहती है। यही कारण है कि बावजूद इसके कि श्रीराम वर्मा दोनों स्थितियों की समग्रता से परिचित होने के बावजूद भी वह अपनी अधिकांश कविताओं में केवल नक़्शेबाज़ से लगते हैं। दूसरे शब्दों में वह केवल एक विचित्र शिल्प के समर्थक मात्र ही रह जाते हैं। श्रीराम वर्मा की दूसरे दौर की कविताएँ इस अर्थ में महत्वपूर्ण हैं कि वे इनके व्यक्तित्व में विकसित होने वाली नये भावबोध की सम्भावना का सृजन करती हैं। प्रत्येक संक्रमण की स्थिति प्राय: इसी प्रकार की असफलताओं से प्रारम्भ होती है क्योंकि प्रत्येक प्रतिष्ठित निष्ठा जब अप्रतिष्ठित का साक्षात्कार करती है तो कहीं न कहीं वह खुद भी झूठी पड़ती है और अप्रतिष्ठित को भी झूठा बनाती है इसलिए यदि श्रीराम वर्मा केवल इस स्थिति के परिचायक हैं और इनकी गति में कोई ऐसा क्रमिक विकास नहीं दिखलायी पड़ता जो इनकी क्रियाशील तटस्थता को व्यक्त करे तो यह मानना पड़ेगा कि उनके दूसरे दौर का सारा प्रयास निरर्थक रहा है। इसके विपरीत यदि यह दिखलायी पड़े कि वह इन दोनों चेतनाओं से उबर कर वास्तव में गम्भीर अगम्भीरता की ओर अग्रसर होते हैं तो फिर उनकी दूसरे दौर की सारी कविताएँ सार्थक हो जाती हैं। श्रीराम वर्मा के इस तीसरे दौर का विश्लेषण आवश्यक है।

मैं इस तीसरे दौर का विकास उनकी 'शब्दों की शताब्दी' कविता से मानता हूँ। यह दौर इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें श्रीराम वर्मा की कविताओं में पाँच बातें मुख्य रूप से मिलती हैं—पहली, क्रियाशील तटस्थता की ओर उनकी मूल्यगत चेतना

विकसित होती प्रतीत होती है। मूल्यों के स्तर पर इनकी दृष्टि पूर्वग्रहों से मुक्त मिलती है साथ ही साथ इनकी रचनाओं में सौन्दर्यात्मक तटस्थता की वस्तुपरकता भी स्पष्ट दिखायी देती है।[1]

दूसरी विशेषता नयी भाषा की खोज और उसकी बुनावट में परम्परागत शब्दों को और नितान्त नये संदर्भों की भाषा की टकराहट द्वारा नयी व्यंजना प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। जैसे :

पैर उठाये पेड़ : आदमी की दिनोंदिन बढ़ती ऊँचाइयाँ
कछुए और गाँव
साँप और शहर

अथवा :

मैंने दर्जी की दूकान से कुछ कतरनें उठायीं
कि रचूँ रंग-बिरंगे बादल
वे भिखारी के लिए कमीज़ बनकर रह गयीं

स्पष्ट हैं कि कछुए और गाँव, साँप और शहर जैसी अभिव्यक्तियों में श्रीराम वर्मा की शब्द-योजना कम से कम में अधिक से अधिक 'अन्डरस्टेटमेन्ट' द्वारा अधिक से अधिक व्यंजना व्यक्त करने की चेष्टा में सफल प्रतीत होती हैं। (3) यद्यपि श्रीराम वर्मा की भाषा बिम्बों की प्रधानता से मुक्त नहीं हो पायी है और प्रतीकों के मोह से उनकी अभिव्यक्ति नितान्त विजडित सी लगती है फिर भी बिम्बों और प्रतीकों को अपनी अर्थवत्ता के लिए कम से कम इस्तेमाल के साथ अधिक से अधिक अर्थ सँजोने का कार्य सफलता से किया है। जैसे :—

अफ्रीका मेरे चुम्बन में जल रहा था
क्लिक् : बण्टू कुल। बुशमैन :
कैमरे से लेकर कालों-गोरों सभी तक की
अन्तरंग भाषा

× ×

---

1. परम्परा से शायद कुछ काम चले अब
इतनी लम्बी परम्परा है हिम्मतशाह,
गुहा मानव ने कहा—'वह मेरे आँगन की गौरय्या है',
जीवन-दर्शन के चिथड़े उड़ गये आखिरकार
मछलियाँ समुद्रों में काली पड़ कर उतराने लगीं निर्जीव
संसद-भवन झंडों और चप्पलों के बीच
लटक रहे ग़ुब्बारे।

पहाड़ियाँ कितनी हसीन हैं
दुहराती चलती हैं अपने को बार-बार
जैसे
संगीन एक दूसरे में
ग़मगीन ठेलमठेल

(4) अर्थहीनता के प्रति भी श्रीराम वर्मा की चेतना जागरूक लगती है। इसकी अभिव्यक्ति उनकी 'बीसवीं सदी का अन्तिम गीत' में बड़ी सफलता के साथ हुई है। स्थापित मूल्यों और उनके प्रति अपूर्णता की दृष्टि उनकी इधर की रचनाओं में बराबर व्यक्त होती रही है। उनकी 'निचोड़', 'सचमुच के गले की आवाज़' और 'एक हाल फ़िलहाल' आदि कविताओं में यद्यपि नितान्त अर्थहीन स्थितियों में व्याप्त अगम्भीर गम्भीरता का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया गया है फिर भी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि कवि स्वत: संज्ञा-बद्ध होकर उनकी ओर उत्सुक लगता है। यह उत्सुकता कब उनके काव्य-शिल्प में ढल कर एक सफल रचना में व्यक्त होगी इसकी प्रतीक्षा रहेगी।

पाँचवीं और अन्तिम बात जिसे मैं किसी भी कवि की मौलिकता के लिए आवश्यक मानता हूँ वह नये सार्थक मुहावरों के लिए Idioms of life की सर्जनशीलता से सम्बद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि विपिन अग्रवाल और रघुवीर सहाय की रचनाओं के बाद यदि किसी नये कवि में सम्भावना दीखती है तो वह श्रीराम वर्मा की रचनाओं में स्पष्ट झलकती है। उनकी कविताओं में हमें जीवन की विसंगतियों के अनुरूप भाषा, उन विसंगतियों से उद्भूत नयी संवेदना का मरोड़, इस मरोड़ में खिंचते-तनते शब्दों के तन्तुओं से नये आकार और उल्काओं के समूह से बने हुए नये ग्रह-उपग्रह के दर्शन होते हैं, लेकिन या तो अपनी इन सम्भावनाओं के प्रति श्रीराम वर्मा जागरूक नहीं हैं या इतने लापरवाह हैं कि उनके संयोजन से अपनी सृष्टि नहीं रच पाते—जो भी हो, यह मानने से इनकार नहीं किया जा सकता कि इनकी भाषा में उस मुहावरे को बनाने का जीनियस है जो इन्हें कभी भी संवेदित हो जाने पर उच्च कोटि का कवि बना सकती है।

इस विश्लेषण के बाद प्रश्न यह उठता है कि कुल मिला कर श्रीराम वर्मा के कवि-व्यक्तित्व को कहाँ स्थापित किया जा सकता है? वैसे इस स्थापना और प्रतिस्थापना का मैं क़ायल नहीं हूँ क्योंकि कभी-कभी इन स्थापनाओं से कवि की मुक्त प्रतिभा कुंठित होती है और यदि उसमें प्रौढ़ रूप में रचनाशीलता नहीं है तो कृत्रिमता भी आती है। फिर भी परिचय अधूरा रह जायेगा यदि हम यह न बतायें कि वह टोपोग्राफी क्या है जहाँ वास्तविक रूप में श्रीराम वर्मा का भौगोलिक मान है।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि श्रीराम वर्मा के पास परम्परा का कितना बाहुल्य है कि यदि वह अपनी 'शरारतपूर्ण प्रतिभा' का उचित उपयोग करें और अपनी अनुभूतियों के संवेग के साथ उनकी व्यंजनाओं के अनेक पहल तराशें तो वह निश्चय

ही एक समर्थ और सार्थक कवि के रूप में उजागर हो सकते हैं। श्रीराम वर्मा के पास प्रबन्ध-शक्ति भी है। उनकी रचनाएँ 'गली का परिवेश', 'शब्दों की शताब्दी' आदि उनकी प्रबन्ध-शक्ति का परिचय देती हैं। इतनी लम्बी कविताओं में बराबर यह खतरा रहता है कि कहीं कविता मात्र रिटॉरिक बन कर न रह जाय, लेकिन जो नमूने हमारे पास हैं उससे यह लगता है कि यदि श्रीराम वर्मा अपनी अभिव्यक्ति को संयमित रूप दे सकेंगे तो निश्चय ही वह नयी कविता को ऐसा प्रबन्ध दे सकते हैं जो 'अंधा युग', 'आत्म-जयी' और 'इतिहास-पुरुष' से आगे की कृति समझी जा सके।

श्रीराम वर्मा के साथ जो सबसे बड़ा ख़तरा है वह यह कि वह कभी-कभी अपनी रचनाओं में बड़े बचकाने हास्य को व्यंजित करना चाहते हैं। वह शायद नहीं जानते कि हास्य न तो इस युग का भावबोध है और न ही इस बढ़ते हुए संक्रामक युग में हास्य का कोई महत्व है। आज की विषमता भी एक व्यंजित अभिप्राय की अपेक्षा रखती है। उनकी बहुत सी कविताओं में बहुत सी पंक्तियाँ ऐसी हैं जो इस ख़तरे का संकेत देती हैं। यदि किसी भी प्रकार श्रीराम वर्मा ने अपने सर्जनशील व्यक्तित्व को इस खतरे से बचा लिया तो निश्चय ही उनका आक्रोश सार्थक संदर्भों में मूल्यवान हो सकता है।

श्रीराम वर्मा के साथ दूसरा खतरा भी लगा हुआ है और वह है संस्कृत के व्याकरण का उपयोग करके एक हल्की-फुल्की चतुराई का आनन्द लेना! कभी-कभी भाषा का यह प्रयोग केवल दिमाग़ी ऐयाशी हो जाता है। लेकिन कभी-कभी ध्वन्यात्मकता के आधार पर शब्दों के तोड़-मोड़ से या उनके नये लय-संयोजन से कमिंग्स जैसे कवि भी जन्म लेते हैं। यह स्पष्ट है कि श्रीराम वर्मा भाषा और शब्द का इस्तेमाल उस कलात्मक रूप में नहीं करते क्योंकि प्रायः उनकी पहुँच केवल समासों की विभक्ति तक ही सीमित रहती है। कुल मिलाकर जब श्रीराम वर्मा के पूरे व्यक्तित्व पर मैं दृष्टि डालता हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि श्रीराम वर्मा में अभी भी संकल्प-शक्ति की कमी है और एक अधूरी आस्था, अधूरा अविश्वास यदि बार-बार विवेक की कसौटी पर नहीं कसा गया तो कृत्रिमता को जन्म दे सकता है। लेकिन इसके साथ यह भी है कि मूल रूप से श्रीराम वर्मा एक कवि हैं इसलिए वह इन खतरों से बच भी सकते हैं।

श्रीराम वर्मा मुख्यत: एक सार्थक कवि हैं—उनकी सार्थकता (Significance) मात्र इसमें है कि उनकी अनुभूति और संवेदना एक बिन्दु पर अपने को दोहराती नहीं चलती वरन् वह एक अनुभूति की प्रज्ञा स्थिति से दूसरी अनुभूति की शृंखला को अपनाती चलती है। यह शृंखला एक क्रमिक विकास के रूप में है। जैसे कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, श्रीराम वर्मा का विकास हुआ है और पिछले दस वर्षों में उनकी अनुभूति के स्तरों में एक क्रमिक विकास मिलता है। उनकी नितान्त भावुक संवेदना के वे स्तर जिनमें उन्होंने एक परम्परित भाव-शैली को स्वीकारा था आज वह उससे आगे नये सर्जन-संदर्भों में लगे हैं। एक विकासशील और अभ्यासी रचनाकार के विषय में

कोई भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, किन्तु जितनी भी रचनाएँ हमारे पास हैं उनके आधार पर यह लगता है कि उनमें अपनी सर्जनशीलता के माध्यम से नया मार्ग और नयी दिशाओं को खोज लेने की क्षमता है। यही नहीं, उनमें उन रूढ़ियों से भी मुक्त होने की क्षमता है, जिनके कारण अच्छे-अच्छे सर्जनशील कवि विकास करना बन्द कर देते हैं। श्रीराम वर्मा का यह गुण ही उनके व्यक्तित्व को आगे बढ़ाने में सहायक होगा। केवल शंका एक ही स्थान पर रहती है और वह यह कि अभी तक जितना भी श्रीराम वर्मा ने लिखा है उसमें 'विवश मतभेद' मात्र झलकता है। यह मतभेद कब और किस स्तर पर एक Non conformist की जिज्ञासा और असंतोष का सबल रूप ले लेगा यह कहा नहीं जा सकता।

लेकिन इसी के साथ यदि यह मान लिया जाय कि श्रीराम वर्मा केवल मतभेद के कवि हैं तो क्या मात्र परम्परा, रूढ़ि और विकृत मूल्यों से असहमत होना मात्र किसी कवि को उसके कृतित्व की सापेक्षता में रखा कर सकता है। मैं समझता हूँ कि आज का युग मात्र असहमति का युग नहीं है। केवल Protestant हो जाना शायद पर्याप्त नहीं है। कवि के लिए आज अपनी सक्रिय तटस्थता को एक अखण्ड Non-Conformism का रूप देना है। वस्तुत: कवि जिस अनुभूति का भोक्ता होता है वह कभी भी उसे सम्पूर्ण तुष्टता नहीं देती वरन् एक नये क्षितिज और एक नयी पर्त को भी दिखलाती है। यदि श्रीराम वर्मा ने किसी भी प्रकार से अपने इस गुण को सुरक्षित रखा और उसके साथ-साथ उस नये क्षितिज और नयी संवेदना की पर्त के प्रति अपनी जागरूकता बनाये रखी तो निश्चय ही इनमें वह अंकुर है जो आगे चल कर एक बड़े और पुष्ट कवि के रूप में इन्हें प्रतिष्ठित कर दे क्योंकि एक बात तो निश्चित है कि श्रीराम वर्मा Platitudes के कवि नहीं हैं और Platitudes के कवि न होने का मतलब यह है कि वह अपनी चेतना के विकास एवं सर्जनशीलता के आयामों में निरन्तर अग्रसर होने वाले हैं।

यहीं पर कुछ बातें इनके काव्य-शिल्प के विषय में भी कह देना आवश्यक है। मुझे लगता है प्रथम दो चरणों में श्रीराम वर्मा का शिल्पगत बोध अधिक काट-छाँट और कुछ सीमा तक एक अर्थवत्ता के भ्रामक मोह में पड़ कर कुछ शिल्पगत मोह में फँसा हुआ था। लेकिन तीसरे चरण में शिल्प और कथ्य दोनों एकरस होकर विकसित होते प्रतीत होते हैं। 'शब्दों की शताब्दी' या (?) शीर्षकहीन कविता या इसी प्रकार की अन्य कविताओं में उनका शिल्प आरोपित नहीं लगता। जब वह कहते हैं कि—

चल रहा हूँ
जैसे ज़ंजीर को खींच रहा हूँ
शब्द कहाँ है?
मेरे बीच
मैं उनके साथ आज कहाँ हूँ

तो इसमें जितनी मार्मिक बात वह कहते हैं उसे व्यंजित करने के लिए वह कोई भी अतिरिक्त शिल्प का आरोपण नहीं करते और न किसी अनुभूति को सिद्ध करने के लिए किसी भी प्रकार का कृत्रिम चमत्कार ही लाते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे यह अनुभूति अभिव्यक्ति के स्तर पर शब्दों, बिम्बों के कोरों को अपने अनुकूल मिला कर चलती है। यह भी सत्य है कि वह इसलिए किसी भी विशिष्ट वाद से सम्बद्ध नहीं हो पाते क्योंकि अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए वह स्वयं अपने को अन्वेषित करते हैं, अभिव्यक्ति की सार्थकता के लिए वह इस तीसरे चरण में सादगी को प्रतिष्ठित करते हैं और शिल्प की अधिकृति के लिए वह पुन: अपने परिवेश के निकटतम को बिना प्रयास अपना लेते हैं।

उनकी सौन्दर्य-दृष्टि भी इसीलिए अधिकांश नयी कविता के प्रतिष्ठित कवियों से भिन्न है। उनमें सामान्य को विशिष्ट और विशेष (Particulerize) करने की क्षमता है। अनुभूति और शिल्प की इस नर्माहट में जो बात विशेष रूप से उभर कर आती है वह उनकी संयोजन-दृष्टि है। कहीं-कहीं इस सौन्दर्य-संयोजन में सामान्य इतना अधिक हो जाता है कि वह विशिष्ट या विशेष नहीं बन पाता—जैसे उनकी लम्बी कविता 'सोने का दर्शन उर्फ बीसवीं सदी की लोरी' है या 'एक पाकिस्तानी भजन' या 'पश्चिम और तुम'। लेकिन यही सामान्य 'गली का परिवेश' के रूप में व्यक्त होता है या 'मानसिक सोना' के रूप में अभिव्यक्ति पाता है तो अपनी अर्थवत्ता और सार्थकता को प्रतिष्ठित करता है। इन दोनों सीमाओं के बीच श्रीराम वर्मा अपना पथ ढूँढ़ रहे हैं। दृष्टि ठीक है, लेकिन कभी-कभी संयोजन और संगठन भिन्न हो जाने से कहीं रुकावट पड़ जाती है। फिर भी किसी भी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि उनके प्रयास में कोई त्रुटि है।

और अन्त में श्रीराम वर्मा के रचनाशील व्यक्तित्व के विषय में जिन बातों का प्रमाण मिलता है वह जागरुकता का है। उनका आक्रोश अब धीरे-धीरे स्थिर होकर विसंगतियों की ठंडी अभिव्यक्ति का रूप ले रहा है। प्रश्न अनेक हैं। निदान न तो कवि का दायित्व है और न अपेक्षित। वह तो केवल स्थितियों का साक्षी होता है और उस साक्ष्य को अपना निजी बना कर व्यक्त करता है। इस निजत्व में जितनी तेज़ी से उसका निजत्व उभरेगा उतनी ही तीव्रता से वह उसे सार्थक बना सकेगा। इसलिए यदि श्रीराम वर्मा मात्र इतना ही देख पाते हैं कि—

सवालों का सिलसिला
तड़पती मछलियों-सा
न आसमान में मँडराता है
न जाल ही बिछाता है
ज़मीन पर अँतड़ियों-सा
सवाल इस तरह लँगड़े हो जाते हैं
जिनका सदियों तक जवाब कभी सीधा नहीं होता।

—तो मैं समझता हूँ यह अनुभव ही इतना Complete है कि वह उनके सारे कृतित्व को एक सार्थकता के वृत्त में प्रस्तुत करके प्रज्ञाचक्षु बन सकता है।

शब्दों की शताब्दी

पहाड़ियाँ कितनी हसीन हैं
दुहराती चलती हैं अपने को बार-बार
जैसी संगीन एक दूसरे में
ग़मगीन ठेलमठेल

सीमन्त की तरह चट्टान से उतरती
सिन्दूरी नदियाँ
खून के रंग में पल्लवित
हवा में उछलता
आसमानों तक
गुलमुहर की तरह उल्लसित
पानी

वही ढाबर पर चित्रित कुहरे का इन्द्रधनुष
वही दूर तक उड़ते चले जाते बर्फ के गाले :
छिट-फुट बगले
वही तह पर तह उजली चोटियाँ :
दूध के दाँत पर दाँत पर दाँत
वही दूर तक घिसटती हुई क्षितिज तक बोझिल
वनस्पतियाँ

बाँसों का हैट :
बुना हुआ पीला आसमान
काले आदमी की चमक :
रेल की पटरियाँ
हरे साँपों के आसपास सूखी पत्तियों के मकान
लकड़ी के खम्भे पर टिके हुए सपने

सुनहले सिंहों की जँभाइयाँ

हाथी के कान-से खड़खड़ाते
कत्थई पत्ते
पैर उठाये पेड़ :
आदमी की दिनोंदिन बढ़ती ऊँचाइयाँ

कछुए और गाँव
साँप और शहर

जंगली रोशनी का निचोड़
शीत में ठिठुरता हुआ अपना खून, अपनी साँस

मंदिर पर सिल्क की पताका-सी चमक
बुझती बिजलियाँ
सब कुछ वही है जैसे सामने
की रेत; उजली विभा या रोड़र
हम जैसे हैरान हैं कि कुछ नया नहीं लगता
सिर्फ़ अजब लगता है दृश्य को, दर्शन को
पी जाना
जी पाना
ऊँघते हुए सो जाना
सोते हुए चलना
लिखने के लिए हर बार श्यामपट
इंजन की चीख़ और धुएँ में
सोते
सोते
घुटना
डिग्रियों के बाद जैसे बेकारी हो आम बात
घुटनों को मोड़कर गर्भस्थ होना
महज़ एक घटना
मोमफली, बिस्तर और बदबू से
गति का आयाम क्या बदल सकता है?
चल रहा हूँ

जैसे जंजीर को खींच रहा हूँ।
शब्द कहाँ हैं?
मेरे बीच
मैं उनके साथ आज कहाँ हूँ

पुराने क़िले तक जाकर उसे खोदता हूँ
सभ्यताओं के उबाल के साथ
कुछ तोते हाथ लग जाते हैं
और हाथ के तोते उड़ जाते हैं

पूरा आसमान हरे तोतों की रटन्त, हरी फ़सल, हरी बिजलियों
और हरी पगडंडियों के पेबन्द में
लस्टम-पस्टम दीख जाता है

टुकड़े-टुकड़े आसमान को/ का मैं क्या करूँ
जो तोते सूर्य नहीं बनते
क्या करूँ उनका

बीती शताब्दियाँ पद्मिनियाँ थीं
रही हों
लेकिन सोने की कुप्पियों पर जो मोम मढ़ी जा चुकी
उनसे मेरे शब्द को अब क्या मिलेगा?
मैं उनका क्या करूँ

इस नयी सभ्यता को उछाल दूँ
अधर में
ताकि नीचे आदमी हो
ऊपर सुविधाएँ और जानवर
क्या करूँ, लगा दूँ मकानों के नीचे पहिये
और पहियों में रिकार्ड

तो भी तो बिना गले की आवाज़ें
तिगिड़-बिगिड़ बजेंगी या खड़र-खड़र आयेंगी

तब भी तो होगी रोशनी : विज्ञापनों में रात
रात : नदी में डूबा हुआ महानगर

शब्द
बगल से गुज़रते हुए
बादल की कोर पर चमकती
किरण-सा
ठंडा
मुझे छोड़ जाते हैं

मुझे शब्द नहीं मिलते
मैं सूँघता हूँ
वे दुलत्ती मार भाग जाते हैं।

मैं ज़मीन से आसमान तक
चक्रान्त
मँडराता हूँ
हवा में घुलकर
समाप्त हो जाता हूँ

लेकिन चाँद वही नहीं है
जो समझते हैं गुबरैले और चमगादड़ जासूस
मैं सम्पूर्ण चाँद को गुम्बद की नोंक में फँसाकर
संतरे की तरह निचोड़ लेना चाहता हूँ
लेकिन शब्द हैं कि जुगाली करते हैं
और जीभ से चाटते हुए हाथों में खुरदरी गुदगुदी
पैदा कर बना देते हैं हमें बचकाना
शरीर शब्दों को क्या कहूँ

कुहरे को पीटकर फ़ौलाद बनाना चाहता हूँ
नदियों को गुरुत्वाकर्षण से खींचकर ऊपर ले जाना
ताकि बाढ़ न आये और फ़सलें खूब हों
लेकिन शब्दों का क्या करूँ

वे चूहे की तरह बिलों में घुस जाते हैं,
पहाड़ खोदने से फ़ायदा या बाल्मीकि होने से

एक अजब संगीत है अंतर्राष्ट्रीय राष्ट्रों का
कि बाँस की फुनगी पर टँग जाती हैं काग़ज की नावें
ताड़ के पेड़ों पर लग जाते हैं पुलिन्दों के नारियल
पानी या तो बन्द हो जाता है अकाल के लिए
या फूटकर बहता है बाढ़ में तैरने के लिए
धूल इतिहासिक होकर उठती जाती है
और हर फ़ौलाद में मोर्चा लगा देती है
हर्षातिरेक रोशनी की धूल होकर पिस जाता है

समुद्र को पीने से क्या होगा
यदि चुल्लू भर पानी से समुद्र ही नहीं बनता

यह नहीं कि शब्द नहीं हैं
पर फुलाने से फूट जाते हैं
छूट जाते हैं पकड़ते ही
उठाते ही टूट जाते हैं

यूँ मुझसे कवि ने कहा—मेरा स्थायी पता कल है।
किन्तु कल सूत की तरह बढ़ता चला जाता है
नेता दिन लौटाने की फिकर में दाँत दिखाते हैं चर्खा चलाते हुए
माइक से कानों तक दाँत की धुआँधार चमक लार की तरह टपकती है
जनता को अधर में लटकाती हुई
स्वर्ग से पतित होने के लिए आज तक

और शब्द चलते हैं
चालू हो जाते हैं
और सारे दरवाज़े बन्द हो जाते हैं
जैसे चुपचाप वेश्याएँ धूप में सिंकती हुई

फिर बारिश में ऊँघते क़ब्रिस्तान
रेत के तूफ़ानों में रेगिस्तान
स्टेशन पर लेटी हुई अनाथ भीड़
आरामदेह धूल-धक्कड़ और वातानुकूलित खटमलों-मच्छरों के साथ

ख़ैर। बदमाशो यानी कवियो और नेताओ,
एक काम करो
मेढक की टर्र-टाँय
वकील की बर्र-बाँय
बस निकाल दो
बड़ी शान्ति होगी

लेकिन टर्र-टर्र जाती नहीं
बर्र-बर्र होती ही रहती है
और शान्ति की जगह चली आती हैं कुर्सियाँ, मेज़ें और गावतकिये,
बम और घुड़कियाँ
शान्ति शरणार्थी होकर खोल देती है इज़ारबन्द

घबराकर मैंने कहा,
विज्ञान, वह एक अच्छी चीज़ है
और मेरी माँ मुझे भगाये लिये जा रही है
सुरक्षा के लिए
न जाने कहाँ
शताब्दियों से जंगली दहाड़ों के बीच से
कि माँ का दो इंच तन
बूढ़ा होकर दो टाँगों के बीच
आइंस्टीन के चेहरे में बदल गया है
और जहाँ भी मील के पत्थर हैं
पत्थर पर आदमी की सिर्फ़ उजली छाया चित्रित है
काल को सारे आयामों में झिंझोड़ती

अन्त में मिट्टी से उठते हुए सुनहले प्रभात को

मैंने तिलांजलि दी
विज्ञान से बड़ी है मेरी अनुभूति, मेरी संवेदना
मैंने जाना
और मैंने उसे चूम लिया
और भीतर की ओर जाती हुई साँस को जाते देखा
क्लिक् : बंटू कुल। बुशमैन : कैमरे से लेकर कालों-गोरों सभी तक की अंतरंग भाषा

अफ्रीका मेरे चुम्बन में जल रहा था
रेडियो ऐक्टिव किरणों में सुरक्षा परिषद्
और स्वतंत्रताएँ विकलांग, विक्षत
मैंने दर्जी की दुकान से कुछ कतरनें उठायीं
कि रचूँ रंगारंग बादल
वे भिखारी के लिए कमीज़ बनकर रह गयीं
जीवन-दर्शन के चिथड़े उड़ गये आख़िरकार
मछलियाँ समुद्रों में काली पड़कर उतराने लगीं निर्जीव
संसद्-भवन झंडों और चप्पलों के बीच लटके रहे ग़ुब्बारे
परम्परा से शायद कुछ काम चले अब
इतनी लम्बी परम्परा है हिम्मतशाह,
गुहामानव ने कहा—वह मेरे आँगन की गौरैया है
नानी की कहानियों में और भी हैं चिड़ियाँ
पर नोचकर खोंस लो। चाहो तो बाज़ बनो नाचीज़
नाख़ून बढ़ा लो। गोखुर, सींग, रोहू के दाँत और बघनख
पहन कर हँसो आदमख़ोर चीटियों की तरह

मैंने हारकर शब्द को प्रथम नागरिकता दी
वे आदिवासियों के गीतों में खो गये, लोकनृत्य सीखते रहे

मैंने कहा, शब्द, आओ कर्म करो
वे उद्‌घाटन के लिए आये
और सोने की कैंची चुराकर भाग गये

प्रदर्शनी में आँतों से सड़कें बन रही थीं
और शब्द गले से निकल नहीं पाते थे
मशीनगनें और टैंक जा रहे थे
घड़ी-घंट, चर्च और डीज़ल इंजन की आवाज़ें
दब गयी थीं

गलफड़ों को चीरकर मैंने शब्द को निकाला
वे मुझे मछली की तरह चट कर गये
शब्दों ने मछलियत स्वीकार की

प्रतीक-पुरुष हँसते हैं
जनता तरसती है
हँसी एक ठूँठ पर टँगी हुई साँप की केंचुल है
चाँदनी बाढ़ में बहती हुई गाय

शब्द सुनाते-सुनाते
रेडियो और भोंपू चुप हैं
छियो राम छियो
रीं-रीं
धाड़ू-धाड़ू
पीं-पीं
बीप-बीप
हुर्र

भूख
कहाँ लगती है
कोई भी
भूख
आदमी इश्तहार बनकर ज़िन्दा रहे मसान पर
रेल की छत पर पानी के बंद छेद पर

बूँद के लिए बैठी रहे मैना
लोकतंत्र सार्थक है

भूखे रहने पर यथार्थ की बुनियादें पक्की हो जाती हैं
संन्यस्त होती है ज़िन्दगी
सह-अस्तित्व
के नाम पर क्या लड़ना
कैसा अस्तित्व
कैसी तैयारी
अहिंसा ही अस्त्र है
चाहे उससे चाचा जी की ही मौत हो
हिमालय हो रक्तवर्ण
धरती का स्वर्ग समन्दर में डूब जाय
यह भी एक दर्शन है
व्याख्या मौलिक हो, तो सूत्र जो भी हों
भाष्य से शताब्दियाँ चला करती हैं
तिरंगे से चाहे भाँग छानी जाय
चाहे मोज़ें बना लिये जायँ

प्रदर्शनी से बाहर आकर देखा :
शब्दों की रंगीन दुनिया
बिना गले की बेशुमार आवाज़ें
हम एक जुलूस से गुज़र रहे थे हाथ मिलाते हुए

कितना एकान्त लगता था
सड़कें बनाने से लेकर विचारों के विकास तक
एक शून्य था नीला या शायद नारंगी

मैं सो गया। गिट्टी पर। फिर
चंद्रमा तक गया
लेकिन सच है कि आदमी वहाँ जाकर
अधिक से अधिक मेढक हो सकता है
आख़िर धरती से काई लेकर तो जायगा

वहाँ जहाँ गति इतनी त्वरित है
जैसे यहाँ चाँदनी
वहाँ भूमानी उसे सोने नहीं देगी
चाहो तो मरे हुए ईश्वर से पूछ लो

अब आसमान एक पुल है
मेरे ऊपर
बादल गड़गड़ाते हैं या
रेल जा रही है या ठेलागाड़ी
मैं सोते-सोते जैसे महसूस करता हूँ
रीढ़ के भीतर से भारी गतिमान शब्द
रौंदते, खूँदते, बकोटते, चींथते
एकान्त को गँड़ासे से काटते

शब्द चू रहे हैं
शब्द हरहरा रहे हैं
मैं भीग रहा हूँ पलाश
झंझावात में

शब्द हैं या तूफ़ान
या डाइनामाइट
या साइनाइट
या पेट्रोल
या तेज़ाब
या ख़ून
या शब्द
या या या
ऊपर छत पर एक बच्चा
एक सूखे मिर्चे को बार-बार पटकता है खेल खेल में

मिर्चे के शब्द
आँखों से होते हुए नसों से बह रहे हैं

शब्दों की परछाइयाँ

दिखीं विद्युत्
फिर लोप हुई

मैं बहरा हो गया हूँ
बारिश में सभी कपड़े छोटे हो गये हैं

एक बज रहा है कोई
जंगल उलट गया है
एक बरगद का तना नहीं रहा
लेकिन उसके तने बहुत हो गये हैं
पत्तियाँ
हरी से काली
छोटी से और छोटी

सीटों पर घुग्घू बैठे हुए हैं
चनाजोरगरम बेचने के लिए
या गर्दनें हिलाने के लिए

नदी ऊपर से बहती हुई
न पटरी है कोई
न पगडंडी
अधर है, एकान्त है, तीता

मिचमिचाती हुई आँख खुलती है
और पीपे के भीतर से एकान्त
और तनता चला गया है।

मुँह है मेरा क्वेटो
जहाँ ज़मीनें नहीं हैं

आखिर यह सब क्या बकवास है
मैं अभी ज़िन्दा हूँ
शट-अप

पावस : प्रेक्षागृह

सोना
जहाँ पइया ओसाती थी
दर्ज़ी की दुकान, रेलें और छापाख़ाने
चालू हैं वहाँ रिमझिम में

रगों में सड़कें नहीं हैं
इस समय
खिड़कियों-दरवाज़ों पर खड़ी हैं
बाबू पीढ़ियाँ
चेहरों पर भभक :
योजनाओं की महक
ड्रनपाइप :
गायों के थन
नालियाँ :
नेताओं के हाथ

बादल रंगमंच हैं गोया
गलियों में नहरों के नये-नये....

रगों में सड़कें नहीं हैं
इस समय
बौछार की कुसुमित लता
काँपती है हवाओं और खेतों के वसन्तोत्सव में
तलवार, संगीन, बिजली, मछलियाँ
खूँख़ार और शोर
कहीं नहीं हैं!

मैदान, समुद्र और हृदयों में
एकान्त
जीवन्त है कितना!

कारें, बत्तियाँ और आँखें
भीगने के बाद मौन हैं
धुले हुए ठहराव, पल्लवित आभा
और अनजाने सुखों में

कपोल के आँसू,
टाइपराइटर के अक्षर
स्थानान्तरित हैं पुरइन, काँच
और सौर-मंडल के बीच!

घटाओं में आम्र-पल्लव, अधर, मंजरियाँ
और इन्द्रधनुष
अलक में अवतरित है
कुल बसन्त
वहाँ जहाँ
आसमान मस्तक है
अपना।

किन्तु काठ के कुकुरमुत्ते,
मेढक और विस्फोट
एक प्रश्न-चक्र उछालते हैं
भ्रम और भविष्य में
हमारा अक्षांश कहाँ होगा?

आओ,
उसे सूँघें
टोहें,
दृढ़ता से चुनें
और नये चेहरों पर बुनें।

निचोड़

हर कमरे में
रहते हैं मरे
लोग

बहते हैं
त-नावहीन

हर दीवार में
  दरार
कली-छिपकली में
  रार

ऊपर कुछ
गिद्ध, कुछ बाज़, कुछ चीलें
नीचे
उल्लू-उदबिलाव बालिग़ परेशान
        कैसे
कुछ दिन और किसी तरह जी लें।

काई से उबकाई तक
वाह रे हवा,
रेह उड़ाती है तू
पूरे वसन्त भर
कठमुल्ले शहर में
बहते हैं सूर्य
(के) खँडहर
    नहर में

जीवन-दंश

पैरों के नीचे मसान है आजकल
पढ़ता रहता हूँ नदियाँ, वनानियाँ

हिम होते फूल और आकाशवाणियाँ

पाता हूँ हर जगह भेड़ियाधसान
पैरों के नीचे मसान

वहाँ क्यों जाऊँ
जहाँ न रेत है न जीवन
सिर्फ़ हिरन की खुरोद्धत धूल
धूल में प-हाड़
पहाड़ पर ईसा के उपदेश

साक्ष्य के लिए
शताब्दियों के थप्पड़ क्यों खाऊँ
व्यर्थ अजायबघरों में
प्रदर्शन क्यों बनूँ
व्यर्थ बिकूँ, बिक जाऊँ?

वर्षा में एक जिज्ञासा

हृदयों में प्रेम
अब उतना नहीं होता
जितना कि संशय, अविस्वस्तियाँ
और टुच्चापन
पानी अब भी बरसता है
पर धुएँ से ज्यादा नहीं

यूँ कीचड़ कम ही दिखता है

पर जहाँ भी दिखा
क्लीव और आदिम लोग
बर्बरताओं पर दुःखी पाये गये

हमारे और निकट भविष्य के

ग्रहलोकों में
आँसू और अणुबम

ईसप और पंचतंत्र की कहानियाँ
ये बच्चे अब नहीं पढ़ते

लेखक और कवि और द्रष्टा
तमग़े नहीं माँगते
शब्दों से मनचाहे अर्थों की
सृष्टि करते हैं

और तो और
मानसून राकेट की तरह चलते हैं
बड़ी सभ्यता से पर्वतों से टकराते हैं

बनरघुड़कियाँ और मुसकानभरी बिजलियाँ
उनमें भी होती हैं

तथागत, क्या बात है
समुद्रों में बादल अब उतने नहीं बनते

सुनिए

वहाँ से हटा लीजिए
अपना वह हाथ
जिसमें कलम है
[और अँगूठा भी!]

देखते नहीं,
[परछाईं]
गधे के कान
चौकन्ने

कुहरे का दशक

1

स्वच्छ जल में
कुहरा भी दिखता है

सूर्य
मैं
उस जल की भुजा हूँ

2

ममतालु आँखों में
सब कुछ झलक जाता है।
कुछ भी छिपता नहीं :
जैसे कि अमरताएँ
आकाश
जैसे कि
पानी में
पानीदार धूप....

3

भाप में लिपटा हुआ
निखरा हुआ
नहाने के बाद बदन :
हरी सुबहें
नीली धूप
चाँदनी के पुंडरीक
जैसे कि
रात का झीना माधुर्य
सब कुछ छाया में ओझल हो!
रूप इतना
कि आत्मा सँजोये
फिर भी अवशेष रहे।

रूप इतना
कि आईने तरल हों
आईनों में रूप
खुद आहें भरे।
रूप इतना
कि ओस बन बिखर जाय
फिर भी दमकता रहे
अ व शे ष

4

इतना सघन कुहासा,
कहीं घड़ियाल न हो।
इतना प्रकाश फिर भी,
कहीं यह जाल न हो।

5

ठंड में
धुआँ
कुछ और
नीचे
उतर आया

अचानक आँखों में
लग जाय

तारोंभरा आकाश
जैसे कि
भीतर-भीतर ही
पीस दिया जाय!

6

बेतार के तार पर
हिम होती चिड़ियाँ :
कुहरे के फेन, फूल, शंख, मुँदी सीपियाँ
अलकमुँदी कनबतियाँ
पलकमुँदी इंगितियाँ
पुतली में तैर रहीं
अलकसदृश संस्मृतियाँ
सूर्यलीन बत्तियाँ
पवन में
नयन में
मुस्कानें ओस की
पानी में स्वीट-पी
केल-पत्र, पंख, अधर की गतियाँ
थिर हैं कुल पत्तियाँ
लहर-लहर
डहर-डहर
स्वप्न-मधुर चुप्पियाँ!

7

मोटा चश्मा

8

धूल
आदमी को पस्त करती हुई
आदमी से बड़ी हो गयी
एक खौंखियाहटभरी ख़ामोशी :
धुएँ की दीवार पर
लंगूर
एकाकी

9

मृत्यु

10

धुँधले वृक्षों ने
जल में
वैसी ही छायाओं से
दुहरा क्षितिज बनाया।

नीले पड़ते अधरों पर
आत्मा से
सहसा सूर्य उतर आया।

एकान्त की आँधी

एकान्त की तरी में मौन
की पालें तनी रहती हैं।

रेत होना किसी हरियर नदी का
पहचानना है।

हवा में चुप कौंदती हैं हरी इतनी बिजलियाँ!

न्याय-दंड

दुनिया भले बदल गयी हो
मगर लोग
आखिर दुनिया में ही रहते हैं न?
जैसे कि सुरक्षा परिषद को लें :
वह एक मरगिल्ली गाय है
जिसे नचिकेता लोग दुह रहे हैं

दूध की जगह ख़ून
गिरे तो गिरे
मगर दुहेंगे ज़रूर
ताकि साँप और साँपकाटे
दोनों को बराबर-बराबर

बाँट सकें
जिससे धाँय-धाँय, हाय-हाय
बंद हो जाय
और नाख़ून से भी नहीं,
खुर और पूँछ से इतिहास लिखा जाय!

लुमुम्बा

कोयले में सौरचक्र :
डिम डिम डिम डिम

पावरोटियाँ कहीं और सेंकिए
बोरसी की राख अभी गर्म होगी
वहाँ————

दिक्कालचक्रवाल के ढाल नहीं बनते
और कौन जाने ढाल के भीतर
गैंडे का प्रेत हो
जिराफ़ की गर्दन अब जिधर होगी
वनचीटियों का जंगल ज़रूर होगा
दरियाई घोड़े इतने विनम्र नहीं होते
कि बूट बनाकर उन्हें पहना जा सके

संसार के तमाम शांतिप्रिय लोगो,
हंस मोती नहीं चुगते
मिनालों में निहित रश्मियाँ चबाते हैं
नीरक्षीरविवेक उनमें नहीं होता
और रक्त कभी राख से नहीं ढँकता

हृदयों और ग्रहलोकों में एक अक्षांश है
लु मु म्बा

विनयी और शांतिप्रिय लोगो,

जल, स्थल और वायु—सभी
मार्गों और माध्यमों से
मैं उद्‌घोषित करता हूँ :

पृथ्वी बूचड़खाना नहीं है मेरे सगो,
हड्डियों का वाद्य और रक्त का संगीत
अगर सुनने लगे राब्सन के श्रोता बीथी वेन
बेचारे फिर वहरे जायेंगे

कोयले में सौरचक्र :
डिम डिम डिम डिम
पर्वतों से लौटो न लौटो
प्रलय अब नहीं होगी

?

एक बार ऐसा हुआ
कि मैं कलकत्ते जा रहा था।
रास्ते में मेरे बाप
मरे पड़े थे;
मेरे आते ही जी उठे!—
और कहा : बेटे, मैं तुम्हारा बाप हूँ!
लेकिन मैं रुका नहीं;
जहाँ जाना था,
गया।

कृपया
आप लोग बताइए,
भला मैंने ऐसा क्योंकर किया?—

तुम्हारा बाप दरबान रहा होगा
और तुम वकील।

हाँ, भई, बाप को पूछता कौन है!
कल के लौंडे ज़रा सा पढ़-वढ़ लिये
और ठीक से बाँधने भी नहीं आया कंठलँगोट
कि बाप को मरने देते हैं चित्रगुप्त के दरवाज़े
और मरी लड़कियों पर खुद लगते हैं मरने

तो क्या तुमने झगड़ा किया था?
या तुम प्रेम में दीवाने थे?
क्या शादी के मामले में तुम दोनों के
बिल्कुल अलग थे विचार?
या बुढ़ाई में तुम्हारे बाबू जी ने इश्क-विश्क
के मामले में तुम्हें चुनौती दी थी?

नहीं, हो सकता है,
मामला दो पीढ़ियों वाला हो
या सदियों की दूरी का।

कि तुम विदेश जाने का पा गये थे
पारपत्र और वे ऐन मौक़े पर
मरकर जी गये!

यह भी हो सकता है,
तुम जवान हो,
वह किसान!
और यह नौकरी, भाई, बड़ी सख़्त होती है!
नौकरी कोई भी हो, चलती नहीं अपनी!—हाँ।

या वहाँ हादसा होने को था?—
जैसे गोली चलने वाली रही हो
या बम-वम का क़िस्सा!
तो तब तो तुम डरपोक हुए।
जवान हुए तो क्या ख़ाक हुए।

हाँ जी, तुम पक्के स्वार्थी हुए।

नहीं यार, तुम बँटवारे के बाद गये होगे!

यह नहीं हो सकता कि डकैती,
हत्या या आत्महत्या वाला
रहा हो कोई सिलसिला?

तो यह भी हो सकता है,
तुम्हें पुरस्कार मिला हो,
जिसे तुम लेने की ललक में
मौत तक को गये हो भूल।

हाँ, अपनी मौत
तो थी नहीं।

शायद वह तुम्हारा बाप ही न रहा हो।
या उसने तुम्हारे लिए सौतेली माँ रख ली हो।
यह वह कमीना रहा हो,
या माँ वहीं रही हो,
जिसे बाप को मरते दम ज़रूरी रहा हो दिखाना।
लेकिन तुम्हारे पास पैसे नहीं थे? अफ़सोस!
—दास केपिटल—
या तुम्हारे यहाँ बच्चा
होने वाला रहा हो और
सीमा के पार
[तक]
उसका प्यार तुम्हें वहाँ
[तक]
ढकेल ले गया हो
कैसी-कैसी बातें

कभी-कभी एक साथ हो जाती हैं
हो सकता है, तुम्हारा बाप
मरकर तुम्हारा बेटा हुआ हो।

लेकिन इसकी तो मूँछें हैं लाला जी!
हाँ पंडित जी, लेकिन जो मरा, वह
ज़िंदा कैसे हो सकता है!

क्या यह नहीं हो सकता
कि यही बाप भी हो, बेटा भी,
मरा भी हो, जिया भी
और गया भी

पर वह तो अब रहा नहीं;
पूछें किससे?
क्या वह मात्र प्रश्न था?
तो आओ अब खुदी सोचें।

मगर अब सवाल है,
वह गया कहाँ?

वह दिवास्वप्न था या भूत?
शायद देवदूत रहा हो।
अजी, भगवान था वह।
बच्चों के जूतों जैसे उसके कान थे
और चेहरे पर देखा नहीं कैसा प्रभामंडल था।

तो साला महामंडलेश्वर रहा होगा।
नहीं जी, अफ़सर कहो अफ़सर।
हाँ नहीं तो, लाट गवर्नर न कहो!
अरे, वो राधाकिसुन चमार वल्द
सियाराम भूमिहार का बेटा था
अजायबलाल,

जो इस तरह ध्यान बँटाकर
आया था कुछ
गड़बड़ करने

देखो, कुछ ले तो नहीं गया?

था ही क्या, जो ले जाता!

हुँह, यही
कि जो सोचना चाहिए,
हम वह न सोचें;
जो वह चाहे, सोचते रहें
ताज़िंदगी।

तो वह, मानो न मानो एक न एक दिन
नेता हो के रहेगा।

पटवारी क्यों नहीं कहते?
क्यों नहीं कहते सट्टेबाज वग़ैरह?

मेरी निगाह में तो
वह हम सब था।

जी हाँ, आपने कह दिया और
हो गया।—फिर सोचिए।
किस प्रश्न पर?

हाँ, किस प्रश्न पर—
यही तो सवाल है;
यही तो।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

('अज्ञेय')

लेखक कई प्रकार के होते हैं। पहले वे जो सिद्धान्त रूप से कभी कुछ नहीं पढ़ते। दूसरे वे जो केवल अपनी रचनाएँ पढ़ते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों को मैं प्रणाम करता हूँ। और कर भी क्या सकता हूँ?

तीसरे वे हैं जो कोई रचना तभी पढ़ते हैं जब वह कम से कम तीन सौ वर्ष पुरानी हो जाय। ये लेखक उतने नहीं जितने प्राध्यापक होते हैं, और ये प्रणाम भी क्यों तीन सौ वर्ष तक कबूल करने लगे, फिर भी आचार्य हैं इसलिए वन्द्य हैं।

जो लेखक पढ़ते हैं और पढ़ने लायक साहित्य की परिधि में से समकालीन साहित्य को निकाल नहीं देते, उसे सहानुभूति पूरी न भी दे सकें, उनसे प्रायः समकालीन या नये आने वाले लेखकों के बारे में चर्चा हो जाती है। इनमें से जिन्होंने सर्वेश्वर जी की कविताएँ पढ़ी हैं वे भी मेरी तरह मानते हैं कि समकालीन सत्य और यथार्थ को जो नये कवि सफल और सबल हाथों से पकड़ सके हैं—जो सच्चे अर्थ में समकालीन जीवन से सम्पृक्त हैं—उनमें सर्वेश्वर जी का विशेष स्थान है। सत्य और यथार्थ, इन शब्दों का प्रयोग मैं किसी पूर्व-ग्रहयुक्त अर्थ में नहीं कर रहा हूँ। मेरा अभिप्राय केवल वस्तु-सत्य या व्यक्ति-निरपेक्ष यथार्थ नहीं है, न ही मैं वस्तु-निरपेक्ष आन्तरिक सत्यों की बात कर रहा हूँ। केवल विषय या वस्तु का सत्य उतना ही अधूरा है जितना कि केवल विषयी का या संवेदक का। कवि या साहित्य-स्रष्टा के लिए यह अधूरापन विशेष रूप से खतरनाक है क्योंकि इन दोनों के सम्बन्धों को देखना और देखते रहना और अचूक ढंग से प्रेषित करना ही कवि कर्म का विशेष उत्तरदायित्व है। सर्वेश्वर जी की कविता 'परफ़ेक्ट' नहीं है—पर्फ़ेक्शन से अभी काफी दूर है—लेकिन वह मूल गुण जो कवि को कवि बनाता है, और जो कवि-दृष्टि को रवि-दृष्टि से अधिक गहरे पहुँचाता है, वह गुण उनमें है। इतना ही नहीं, उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व का अनुक्षण बोध भी उनकी कविता में लक्षित होता है। इसीलिए उनको रचना पढ़ने पर उसकी त्रुटियों के बावजूद हम उस स्पन्दन का अनुभव कर पाते हैं जो कि वास्तव में सम्पूर्ण जीवन की धमनी का स्पन्दन है।

मानव-जीवन अधूरा है। यह केवल युग-सत्य नहीं है : पहले भी मानव-जीवन अधूरा था और आगे भी अधूरा रहेगा। पूर्णता वह है जिसकी ओर हम बढ़ते हैं, वह नहीं जिसे हमने पा लिया है। पूरा या लगभग पूरा कुछ हो सकता है तो मानव की दृष्टि ही हो सकती है। अधूरे को पूरा का पूरा देख लेने वाली, तीन आयामों में फैले

हुए जड़ विस्तार और चार आयामों के हमारे जीवन के अधूरेपन का पूरा व्यास नाप लेने वाली हमारी दृष्टि ही हो सकती है। इन चार आयामों से परे अस्तित्व के और भी आयाम हो सकते हैं, उनका संकेत देने वाली, उनके प्रति हमें खुला रखने वाली यह दृष्टि ही हो सकती है।

सर्वेश्वर जी की कविता का (कम से कम मेरे लिए) मुख्य आकर्षण यही है कि इस दृष्टि को बराबर बढ़ाने की—अधिक विस्तार और अधिक गहराई दोनों देने की—उनमें एक उत्कट बेचैनी है। बेचैनी अपने आप में इष्ट नहीं है और दृष्टि चाहना दृष्टि पाना नहीं है; लेकिन प्रत्येक मानव बोधिसत्व है और अगर वह साधना के सही रास्ते पर है तो वह अवश्य ही दूसरों को आगे ले जाने में सहायक होगा। 'खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ' शीर्षक कविता में यह बेचैनी और इसकी रचनात्मक सम्भावनाएँ बड़े प्रभावशाली रूप में हमारे सम्मुख आती हैं। जो दीखता है, उसके पीछे जो है, उसे उघाड़ और उभार कर सामने लाने का सर्वेश्वर जी का आग्रह छायावादी के उस आग्रह से बिल्कुल भिन्न है जो कि जो कुछ दीखता था सभी को मिथ्या मानता था और उसके पीछे किसी अदृश्य, अनिर्वचनीय, रहस्यमय सत्य के संस्पर्श के लिए उतावला रहता था। सर्वेश्वर जी की बेचैनी वह भड़भड़ियापन नहीं है जो कठिन परिस्थिति में हाथ-पैर पटक कर और चिल्ल-पों मचा कर फिर परास्त हो जाता है, वह एक समर्थ व्यक्ति का छूछे आकारों के विरुद्ध विद्रोह है। जो दीखता है, जो सतही है वह मिथ्या या अयथार्थ नहीं है, स्वयं मिथ्या भी अयथार्थ नहीं है, फिर भी आकारों की झिल्ली में जो अभिप्राय घुट रहा है, उसे हमें मुक्त करना है, यही कवि का आग्रह है। झिल्ली को फाड़ने का निर्ममत्व, रुद्ध अभिप्राय को मुक्त और पुष्ट करने की उदार करुणा दोनों ही कवि में हैं—क्योंकि उसकी बेचैनी के मूल में जीवन में उसका अगाध विश्वास है।

और यह विश्वास सर्वेश्वर जी की कविता का दूसरा उल्लेखनीय गुण है। यही उनकी व्यंग्योक्तियों को निरी कटूक्तियाँ होने से बचाता है और उन्हें प्रेरकता और निर्माणशीलता देता है। 'पोस्टर और आदमी' शीर्षक कविता में जब वह कहते हैं—

पोस्टर

जो दूसरे की बात कहते हैं
जिनके हृदय नहीं है पर प्यार का सन्देश देते हैं
जो एक आकार है, महज़ आकार
जिस की कोई सीमा नहीं है
जिन के भाव दूसरे के हैं
वे आज के युग में
आदमी से अधिक बड़े सत्य हैं,

स्पष्ट ही यह विश्वास प्रेरणा देने वाला है—कर्म का उत्स है। कवि में आस्था है, इसलिए वह जानता है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं होने देना है :

वीर वधूटी के बूटे वाली घास पर
ये काले टैंक नहीं जाने दूँगा।
यह अधबुना स्वीटर
यह शादी का स्लीपर,
यह बटुआ, यह गाउन
उल्टी कुरसी भू पर
भय से ठंडी इस ख़ामोशी की लाश पर
बंदूकें तुम्हें नहीं लाने दूँगा।

कवि की आस्था एक ओर उसे दृष्टि दे देती है कि जीवन की सम्पूर्णता को देख सके—उस सम्पूर्णता को जिसमें अनेक अपूर्णताएँ, त्रुटियाँ, व्यर्थताएँ, विभाजन और परिसीमन-रेखाएँ समायी हुई हैं—और दूसरी ओर उसे कर्मठ और कृत-निश्चय भी बनाती हैं।

इसीलिए कवि वादों के फन्दों में न फँसकर मानव की मेधा और चेतना को मुक्त रखने का आग्रह करता है। वह पहचानता है कि आज का सबसे बड़ा ख़तरा और पाप वादों के द्वारा—ऐसे वादों के जिनकी पुश्त पर विशाल संगठित, यन्त्र-कौशल और अपार सैन्यबल है—ऐसे वादों के द्वारा जन-मानस का घर्षण है। जन-मानस के इस संगठित घर्षण का विरोध बड़े तीखे व्यंग्य के रूप में 'पीस पगोडा' और 'सरकंडे की गाड़ी' शीर्षक कविताओं में प्रकट हुआ है। 'कलाकार और सिपाही' में संगठन के जोर पर मानवीय उद्योग को ग़लत दिशा में मोड़ने के विरुद्ध कवि का आक्रोश है।

दृष्टि अभिप्रायों को भी देखती है और आकारों की भी। सर्वेश्वर जी की कविताओं में आकारों को मूर्त करने की असाधारण क्षमता है। 'भोर' शीर्षक कविता में भोर का पूरा चित्र खिंच कर हमारे सामने आ जाता है; इतना ही नहीं, उस कोमल भाव को जगा कर छोड़ जाता है जिसे कवि छूना चाहता है। 'सन्ध्या का श्रम', 'गाँव की शाम का सफर' आदि इसी प्रकार की दूसरी कविताएँ यह बताती हैं कि कवि की यह सफलता आकस्मिक नहीं है।

लेकिन सब व्याख्या शब्द और आशय के बीच में एक बाधा के रूप में होती है। उसी प्रकार जैसे स्वयं शब्द, अनुभूति और उसके प्रेषण के बीच में एक बाधा होते हैं यद्यपि वे ही प्रेषणीयता का साधन हैं। शब्द की यह मर्यादा सर्वेश्वर जी समझते हैं और एक सहज ऋजुता के साथ स्वीकार करते हैं :

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है
तुम उसको मत वाणी देना!

वह छाया है मेरे पावन विश्वासों की,
वह पूँजी है मेरे गूँगे अभ्यासों की,
वह सारी रचना का क्रम है,
वह जीवन का संचित श्रम है,
बस उतना ही मैं हूँ
बस उतना ही मेरा आश्रय है
तुम उसको मत वाणी देना।

मेरी ओर से भी सब कुछ कह लेने के बाद जो रह जाता है उसे सर्वेश्वर जी की कविता को ही कहने दीजिए।

[2]

यह नहीं कविता के पाठक के साथ न्याय नहीं होगा और सर्वेश्वर जी के साथ भी अन्याय होगा अगर मैं उन बातों का भी उल्लेख न करूँ जिनकी कमी मुझे उनकी कविताओं में खटकती है—यानी जिन्हें मैं कमी समझता हूँ, दूसरे चाहे न भी समझें।

पहली और मुख्य है तन्त्र-कौशल की कमी। मैं 'फ़ार्मलिस्ट' हूँ, इस अभियोग से इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि एक बार और उसका जोखम उठाने के लिये तैयार हूँ; लेकिन जो बात मैं कहना चाहता हूँ वह वास्तव में केवल रूपाकार की नहीं है, वह अनुशासित अभिव्यक्ति की बात है—अनुशासन के साथ इतने गहरे और सहज सम्बन्ध कि वह अभिव्यक्ति का अंग बन जाय। एक सोने का पिंजरा होता है जिस में हम पक्षी रखते हैं : एक पक्षी का अस्थिपिंजर होता है जो उसे पक्षी बनाये रखता है और पक्षी से इतर कुछ नहीं होने देता। ये अनुशासन के पर्याय हैं। रचनाकार का कौशल वह चीज है जिसके कारण पक्षी को अस्थिपिंजर के सहारे पक्षी बने रहना खलता नहीं, बल्कि मालूम ही नहीं होता। न पक्षी को देखने वाला उस पिंजर को देखता या उसकी बात सोचता है।

सर्वेश्वर जी का काव्य-पक्षी सुन्दर तो है, और जीवन्त भी; लेकिन कहीं उसी रूप में भी दीखता है जिसमें वह अनुभूति के अन्धड़ के तुरन्त बाद आ जाता होगा। सद्य: प्रस्फुटित कली का टटकापन गुण है, सोंधापन गुण है, लेकिन अनुभूति की एक प्राक्परिपक्व स्थिति होती है जो अनुभावक के लिये चाहे जितना महत्त्व रखती हो, काव्य-रसिक के सम्मुख लाने लायक नहीं होती।

दूसरी बात जिसकी ओर मैं पाठक से अधिक सर्वेश्वर जी का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, भाषा से सम्बन्ध रखती है—या कह लीजिये रचना से। आज के कवि की प्रवृत्ति काव्य की और साधारण बोलचाल की भाषा का भेद मिटा देने की है; काव्य की भाषा अलग होती है या होनी चाहिए यह वह नहीं मान सकता। प्रश्न केवल शब्द-चयन का नहीं है, वाक्य-रचना का है, योजना का है, अन्विति का है। इसमें तो आज की प्रवृत्ति सर्वेश्वर जी के साथ है—या वह उसके साथ हैं। लेकिन बात यहीं तक

नहीं रह जाती। आज की कविता बोल-चाल की अन्विति माँगती है, पर गद्य की लय नहीं माँगती। तुक-ताल का बन्धन उसने अनात्यन्तिक मान लिया है, पर लय को वह उक्ति का अभिन्न अंग मानती है। बाह्य अनुशासन को हेय नहीं तो गौण मान लेने पर आन्तरिक अनुशासन को वह अधिक महत्त्व देती है। और यहाँ, मुझे जान पड़ता है, सर्वेश्वर जी कभी-कभी चूक जाते हैं। उनकी कविता-पंक्तियाँ केवल खंडित गद्य की पंक्तियाँ रह जाती हैं। अनुभूति का खरापन, उक्ति की प्रभावशालिता उनमें रहती है, पर कविता का सर्वांग सौन्दर्य उन्हें नहीं मिलता क्योंकि लय की बुनियादी माँग वे पूरी नहीं करतीं।

यह ठीक है कि यह दोष उस कविता में बहुधा पाया जाता है जिसे नयी कविता की अभिधा दी जा रही है : और तथा-कथित प्रगतिवादी कविता में तो इन सब बातों को कोई महत्व ही नहीं दिया जाता क्योंकि ये तो निरे मँजाव का अंग हैं और मँजाव बुर्जुआपन है। यह भी ठीक है कि यह दोष उस दूसरे और उतने ही व्यापक दोष से कहीं कम गर्ह्य हैं जिसमें कविता के पहले अक्षर से अन्त तक एक ही यान्त्रिक लय चलती जाती है, न तो गति की स्वाभाविकता का विचार होता है और न यति की सार्थकता का—और जहाँ-तहाँ अनावश्यक रूप से जोड़ दिये गये 'कि' की आवृत्ति एकस्वरता को और भी बढ़ा देती हैं। लेकिन न तो दोष की व्यापकता उसकी सफ़ाई है, न उससे बड़े दोषों का अस्तित्व।

कालानुक्रम से सर्वेश्वर जी की कविताएँ देखने पर अनुमान होता है कि इस दूसरे दोष से वह क्रमशः मुक्त हो रहे हैं। असल पूँजी उनके पास है ही, उसके उपयोग की कुशलता और बढ़ जाय तो हिन्दी की काव्य-निधि को वह अवश्य बहुत सम्पन्नतर बना सकेंगे। [मैं पूँजी और सम्पन्नता की बात कह गया, इसके लिए प्रगतिवादी आलोचक मुझी पर झपटें—यह रूपक सर्वेश्वर जी का आविष्कार नहीं है, उनकी पूँजी तो उनकी संवेदना और भावनाएँ हैं।]

उल्लेखनीय प्रकाशित कविताएँ : 'सुहागिन का गीत' (प्रतीक 4-51), तीन कविताएँ, (प्रतीक, 6-51), 'दो अगर की बत्तियाँ' (प्रतीक 12-51), 'घास काटने की मशीन' (प्रतीक 12-51), 'सरकंडे की गाड़ी' (प्रतीक 4-52), 'पंख दो' (कल्पना, 10-53), 'नये वर्ष पर' (नये पत्ते, अंक 2)।

कलांकार और सिपाही

वे तो पागल थे—
जो सत्य, शिव सुन्दर की खोज में
अपने अपने सपने लिए,
नदियों, पहाड़ों, बियाबानों, सुनसानों में,
फटे हाल, भूखे प्यासे,
टकराते फिरते थे;

अपने से जूझते थे;
आत्मा की आज्ञा पर,
मानवता के लिए
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत, काटकाट कर,
मूर्तियाँ, मन्दिर और गुफाएँ बनाते थे।
किन्तु ऐ दोस्त!
इनको मैं क्या कहूँ,
जो मौत की खोज में
अपनी अपनी बन्दूकें, मशीनगनें लिए हुए,
नदियों, पहाड़ों बियाबानों सुनसानों में,
फटेहाल, भूखे प्यासे,
टकराते फिरते हैं,
दूसरों की आज्ञा पर
चन्द पैसों के वास्ते,
शिलाएँ, चट्टानें, पर्वत काटकाटकर,
रसद, हथियार, एम्बुलेन्स, मुर्दागाड़ियों के लिए
सड़कें बनाते हैं?
वे तो पागल थे—
पर इनको मैं क्या कहूँ?

पोस्टर और आदमी

मैं अपने को, नन्हा सा, दबा हुआ
विशालकाय बड़े बड़े पोस्टरों
के अनुपात में खड़ा देख रहा हूँ,
जिनकी ओर
एक भीड़
देखती हुई
गुज़र रही है,
हँसती, गाती, उछलती, कूदती,
एक तेज़ी, एक भागदौड़,
एक धक्कमधुक्का, एक होड़

जिनके चारों ओर है।
मगर वे चुप हैं
उन सब के मुख पर एक ही भाव हैं,
उनकी सबकी एक ही मुद्राएँ हैं,
रंगों से भरे पुरे, चटकीले, भड़कीले
सब की आकर्षणों के केन्द्र
वे सब एक ही जगह पर खड़े हैं।

पोस्टर—विशालकाय पोस्टर—
लोग उन्हें देखकर हँसते हैं,
मुँह बनाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं,
उदास हो जाते हैं;
औरतें उन्हें देखकर मुस्कराती हैं,
होंठ दबाती हैं;
आँखों आँखों में बात करती हैं;
बच्चे टो टो करते हैं,
खुश होकर चिल्लाते हैं,
तोतली बोली में बुलाते हैं,
और मैं उनके सामने
नन्हा सा दबा हुआ खड़ा हूँ,
बेजाना, बेपहचाना—
इस प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय;
शायद कोई मुझे आवाज़ दे,
शायद किसी की सूनी निगाह
मुझे देखकर शोख़ हो जाय,
शायद कोई, शायद कोई
मुझे पहिचाने, मुझे बुलाए....
लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने में

आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं,
वे आदमी से बड़े सत्य हैं।

पोस्टर

जो दूसरे की बात कहते हैं,
जिनमें आकर्षण है लेकिन जान नहीं,
जो चौराहों पर खड़े रहते हैं,
सब की राह रोकते हैं, सब को टोकते हैं,
लेकिन किसी से कोई मतलब नहीं रखते,
जिनमें दिल, दिमाग़, आत्मा, कुछ भी नहीं है,
महज़ रंग, गहरा भड़कीला रंग है,
जिनके हृदय नहीं है पर प्यार का संदेश देते हैं,
जो एक आकार हैं, महज़ आकार,
जिसकी कोई सीमा नहीं है,
जिनके भाव दूसरे के हैं,
जिनकी मुद्राएँ
जिनके हाथ, पैर, नाक, कान
आँख, मुँह, दिल, दिमाग़
सब दूसरों के हैं,
जो पोस्टर हैं
महज़ पोस्टर हैं—
वे आज के युग में
आदमी से अधिक बड़े सत्य हैं;
उन्हें सब पहिचानते हैं,
वे ही महान् हैं।

पीस पेगोडा

एक लाश खड़ी करके
दूसरी लाश उसके सर पर लिटा दी गई है,
ताकि उसकी छाँह तले

ठंडक से ऐंठे हुए
दो बेहोश ज़हरीले साँपों के फन
एक ही कमल की पंखुरी पर
सुलाए जा सकें।
क्या कमाल है मेरे दोस्त!
काश कि तुमने इन साँपों के शरीर को
तितलियों के परों से और मढ़ दिया होता,
फिर तुम्हारी यह शान्ति
असली शान्ति सी लगने लगती।
क्या फौजी वर्दियों पर
बुद्ध भिक्षुओं का गैरिक वसन
नहीं ओढ़ा जा सकता था?
'टी' के आकार के पेगोडा के नीचे
भिक्षुओं का स्वाँग
शायद कुछ और टिकाऊ हो पाता।
मुझे इसमें एतराज़ नहीं है
कि तुमने शान्ति लिखते समय
एक दूसरे की ओर न देखकर
अपने रिवाल्वरों की ओर देखा;
मुझे इसमें भी एतराज़ नहीं है
कि तुमने करुणा और स्नेह से
एक दूसरे के सम्मुख सर झुकाने के बजाय
अपने भारी फ़ौजी बूटों के ठोकरों की आवाज़ की;
मुझे इसमें भी एतराज़ नहीं है
कि कुछ क्षणों तक भूल से
तुम क़लम को बन्दूक की तरह पकड़े रह गए;
मुझे इसमें भी एतराज़ नहीं है
कि शान्ति लिखने के बाद
तुम एक क्षण को भी नहीं रुके,
तुम्हारे सर ऊपर नहीं उठ सके,
तुम्हारे होंठों पर मुस्कान नहीं आई

तुम तीर से अलग अलग दिशाओं में
अपना अपना मुँह छिपाकर चले गए,
जहाँ तुम्हारी फ़ौजें तुम्हारा
इन्तज़ार कर रही थीं;
महज़ इसलिए
कि मुझे विश्वास है
कि तुम्हारी आँखों के सामने
पिकासो का शान्ति-कबूतर ही था,
जिसे अगली बार युद्ध क्षेत्रों में
मार्च करते हुए विशाल टैंकों पर
तुम सुन्दरता के साथ
लगाने की बात सोच रहे थे,
और यह भी सोच रहे थे
कि किस तरह शान्ति-कबूतर छाप
बन्दूकें और मशीनगनें ढाली जाएँ,
महज़ इसलिए—
कि मुझे विश्वास है
कि तुम्हारी आँखों के सामने
विशालकाय 'लिबर्टी स्टेचू' ही था,
जिसे अगले युद्ध के समय
'ऐटम बम' से भरे हुए तहख़ानों पर
तुम और भव्य रूप से
स्थापित करने की बात सोच रहे थे,
ताकि उसके प्रकाश के घेरे में
बड़े बड़े युद्ध के जहाज़ लंगर डाल सकें,
और यह भी सोच रहे थे
कि किस प्रकार
'लिबर्टी' छाप बैजेज़
सिपाहियों की वर्दी में टाँके जा सकते हैं;
क्योंकि राम का नाम लेने से जब पापी तर जाते हैं,
तो क्या शान्ति का नाम रटने से

युद्ध नहीं रुक सकेंगे,?
ज़रूर मेरे दोस्त!
मेरी बधाई स्वीकार करो,
और इस बार यदि फिर
'पीस पेगोडा' बनाना पड़े
तो बौद्ध भिक्षुओं के गैरिक वसनों को न भूलना,
क्योंकि उन ढीले चोगों के नीचे
बड़ी बड़ी 'आटोमेटिक राइफल्स' तक
आसानी से छिपाई जा सकती हैं।

भोर .

सलमे सितारों की कामवाली
नीली मख़मल का ख़ोल चढ़ा
अम्बर का बड़ा सिंदौरा उलटा।
धरती पर,
नदियों के जल में,
गिरि तरु के शिखरों से ढर ढर कर
सब सेंदुर फैल गया।

प्रथम बार—
इस गँवार नारि के सिंगार पर
कोटर-कोटर से छिप झाँकती
सखियाँ खिलखिला उठीं,
पीछे से आ पिय ने
चुपके से हाथ बढ़ा,
माथे पर चाँदी की बिंदिया चिपका दी
लज्जा से लाल मुख
हथेलियों में छिपा
भोर झट भाग
ओट हो गई,
माथे से छूट

गिरी बेंदी।
बस पड़ी रही

आज पहली बार

आज पहली बार—
थकी शीतल हवा ने
शीश मेरा उठाकर,
चुपचाप अपनी गोद में रक्खा,
और जलते हुए मस्तक पर
काँपता सा हाथ रख कर कहा—
''सुनो मैं भी पराजित हूँ,
सुनो मैं भी बहुत भटकी हूँ,
सुनो मेरा भी नहीं कोई,
सुनो मैं भी कहीं अटकी हूँ,
पर न जाने क्यों
पराजय ने मुझे शीतल किया,
और हर भटकाव ने गति दी,
नहीं कोई था
इसी से सब हो गए मेरे
मैं स्वयं को बाँटती ही फिरी
किसी ने मुझको नहीं यति दी।''
लगा मुझको उठाकर कोई खड़ा कर गया,
और मेरे दर्द को मुझसे बड़ा कर गया,
आज पहली बार।

सब कुछ कह लेने के बाद

सब कुछ कह लेने के बाद
कुछ ऐसा है जो रह जाता है;
तुम उसको मत वाणी देना।
वह छाया है मेरे पावन विश्वासों की,
वह पूँजी है मेरे गूँगे अभ्यासों की,

वह सारी रचना का क्रम है,
वह जीवन का संचित श्रम है,
बस उतना ही मैं हूँ
बस उतना ही मेरा आश्रय है,
तुम उसको मत वाणी देना।
वह पीड़ा है जो हमको तुमको सब को अपनाती है;
सच्चाई है—अनजानों का भी हाथ पकड़ चलना सिखलाती है,
वह यति है—हर गति को नया जन्म देती है,
आस्था है—रेती में भी नौका खेती है,
वह टूटे मन की सामर्थ है,
वह भटकी आत्मा का अर्थ है;
तुम उसको मत वाणी देना।
वह मुझसे या मेरे युग से भी ऊपर है,
वह भावी मानव की थाती है, भूपर है,
बर्बरता में भी देवत्व की कड़ी है वह,
इसीलिए ध्वंस और नाश से बड़ी है वह;
अन्तराल है वह—नया सूर्य उगा लेती है,
नये लोक; नयी सृष्टि, नये स्वप्न देती है,
वह मेरी कृति है
पर मैं उसकी अनुकृति हूँ;
तुम उसको मत वाणी देना।

श्री लक्ष्मीकांत वर्मा

(विजयदेव नारायण साही)

नयी कविता के पक्ष में—और विरुद्ध भी—जो कुछ अब तक कहा गया है, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताएँ, उसमें से अधिकतर का उदाहरण प्रस्तुत करती-सी जान पड़ती हैं। शायद अन्य कवियों से अधिक वेग के साथ—कम-से-कम औरों से अधिक असंकोची होकर ही—उन्होंने भावनाओं के एक सर्वथा नये सामंजस्य को ढूँढ़ने का प्रयास किया है।

यह कोई नई बात नहीं है कि कवि अपनी भावनाओं और परिवेश के बीच एक संघर्ष का अनुभव करे। सदा से ही कविता का स्रोत इसी संघर्ष में निहित रहा है। लेकिन पुराने कवि के साथ एक आसानी थी : वह अपनी इच्छा या कल्पना के अनुसार दो में से एक की यथार्थता से इन्कार कर सकता था। एक प्रकार की मानसिक एकाग्रता उसे मिल जाती थी और काव्यमय कविता—गीतों या प्रबन्धों के रूप में सम्भव हो पाती थी। आज के कवि को एक ही साथ दो बिन्दुओं पर खड़ा होकर देखने की चेष्टा करनी पड़ती है। भावनाओं के आगे परिवेश को गौण मानने की परिणति उसने पलायनवाद और रोमाण्टिक कैशोर्य में देखी है। परिवेश के आगे भावनाओं को निछावर कर देने वाला फासिस्ट तानाशाही स्वरूप भी उसके अनुभव का भाग बन चुका है। अत: कलात्मक रूप से एक साथ दो दृष्टि-बिन्दुओं का सन्तुलन कितना ही असंगत क्यों न लगे, यथार्थ का प्रस्तुतकर्ता होने के कारण, उसे सामंजस्य अथवा समानान्तरता के रूप में दोनों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अक्सर नये कवियों में यह दुहरी चेतना तीखे विद्रोह एवं व्यंग्य और कहीं-कहीं विद्रूप एवं कुंठा में व्यक्त हुई है। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताओं का स्रोत भी यही है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि अन्य नये कवियों की अपेक्षा वे दोनों बिन्दुओं में अधिक समान रूप में व्याप्त हैं। इस कारण टेकनिक और शिल्प में चाहे निखार न आया हो, परन्तु विद्रोह का विस्फोट और जीवन के व्यंग्य का अनुभव बड़ी प्रखरता के साथ हुआ है—

यह कलाकार का भूखा घर

उबली खिचड़ी

ठिठुरी दालें

यह फटे दूध-सा जर्जर मन

नंगे बच्चे
भूखी बीवी
साँस रोगी-सी ग्रस्त-त्रस्त, अंधी कोठरी,
कवि कलाकार, अतिशय भावुक
अतिशय उदार, अतिशय गतिमय
यह सोच रहा अपने मन में
यह सभी व्यंग्य
यह राह तंग!

पहला यथार्थ यह है कि जीवन अपनी दैनन्दिन गति में नीरस, अरुचि-पूर्ण, बल्कि भयावह है; इस विषण्णता के बीच कवि की नैसर्गिक भावुकता दूसरा यथार्थ है। एक समय था जब कवि एक की सार्थकता दूसरे से सिद्ध कर लेता था। आज ये दोनों विश्व एक साथ वर्तमान हैं, और उनके बीच की खाई पाटना सम्भव नहीं है। सुन्दर और वीभत्स—एक-दूसरे के पूरक या प्रकाशक भी नहीं हैं—वे केवल एक-दूसरे पर कठोर व्यंग्य के रूप में हैं। जीवन की यह समस्या नये कवि को किस प्रकार विद्रोही बना देती है इसका अच्छा उदाहरण लक्ष्मीकान्त की 'कली की जड़ें' शीर्षक कविता में मिलता है। इसी मज़मून को उमर ख़ैयाम ने भी बाँधा है। एक साधारण तुलना से ही नये और पुराने का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो जायेगा—

कली की जड़ें

यह कौन है जो कली-कली में एक गुदाज पैदा कर रहा है।
यह कौन है जो शबनम के कतरों में बेसाख्ता मिटने की साध भर रहा है
उधर देखो! इसी कली की जड़ों को, देखो
उसके नीचे एक कली है—
इतना भयानक सत्य

[एक लाश अपनी सड़ी-गली उँगलियों की पोर से फूला हुआ शरीर फोड़ रही है और कली हँस रही है]

उमर खैयाम की रूबाई का फिट्ज जेराल्ड-कृत अंग्रेजी अनुवाद यों है :

And this delightful herb whose tender green
Fledges the river lip on which we lean
Ah lean upon it lightly! for who knows
From what once lovely Lip it springs unseen!

स्पष्ट है कि नये कवि को उमर खैयाम के विलासी दुःख का भी सन्तोष नहीं प्राप्त है। उसे तो गला घोंटने वाले जीवन के शिकंजे के विरुद्ध युद्ध भी करना है और अपनी गुदाज पैदा करने वाली कली को हँसाते भी रहना है।

इस व्यंग्य को लक्ष्मीकान्त ने मर्मान्तक पीड़ा और निपट गम्भीरता के साथ ग्रहण किया है। जिस प्रचुरता और गति के साथ उन्होंने अब तक कविताएँ लिखी हैं उनसे उनके मन में प्रतिपल होने वाले भावनात्मक विस्फोट का पता चलता है जिस तरह सूर्य में बराबर परमाणुओं का विस्फोट चलता रहकर प्रकाश का तारतम्य प्रस्तुत करता है। इस भीषण गति के कारण कविता के शिल्प का गौण—बल्कि अनावश्यक—हो जाना स्वाभाविक था। लेकिन शिल्प का विघटन इस सीमा तक पहुँचने पर भी, कविता, कविता बनी रह जाय, यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। इसी अर्थ में लक्ष्मीकान्त नयी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते-से जान पड़ते हैं, क्योंकि उनकी कविताएँ—आभूषणहीन बल्कि परिधानहीन हैं—यूकेलिप्टस के वृक्ष की भाँति!

लक्ष्मीकान्त सटीक उक्ति, चुभती पदावली, तीखी उपमा के कवि नहीं हैं सम्भवतः वे उत्तेजक आशय के भी कवि नहीं हैं। उनकी सारी कविता-प्रणाली में एक अजब-सा खुरदरापन, अनगढ़पन व्याकृति—परिव्याप्त है। यह जान-बूझकर उतार हुआ खुरदरापन नहीं है। इसकी स्वाभाविक उत्पत्ति उनके कवि-व्यक्तित्व से ही होती है। जिस भावभूमि को उन्होंने ग्रहण किया है उससे उनकी शैली का ऐसा स्वाभाविक सामंजस्य है कि एक को अंगीकार करने पर दूसरा उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में अंगीकृत हो जाता है। सिर्फ़ इतनी ही प्रतिभा होने पर लक्ष्मीकान्त केवल काव्यात्मक सम्भावनाओं के कलाकार रह जाते। किन्तु उनकी प्रतिभा के बलशाली उपादान के रूप में उन्हें एक और विभूति मिली है जो इन कविताओं को एकता, सार्थकता और प्रवेग से आलोकित कर देती है। संक्षेप में, अनपढ़ शब्द-जाल के बीच प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है और पूरी कविता चमत्कार की भाँति भौवों के आगे कौंध जाती है। यह नये कवि का मात्र चौंकाने वाला कौशल नहीं है। उसकी ओर आलोचकगण प्रायः संकेत करते हैं। लक्ष्मीकान्त के साथ उसके महत्त्व इससे कहीं अधिक हैं। वस्तुतः यह वही आधार है जिस पर खड़े होकर लक्ष्मीकान्त जीवन के अन्तर्विरोध का सामना करते हैं और सामंजस्य की उपलब्धि करते हैं। चूँकि यह आधार अत्यन्त बारीक और अप्रत्याशित किन्तु सत्य और संगत होता है, इसीलिए हमें चमत्कृत करता है। इतना तो निश्चित है कि इस कवि के साथ तलवार की धार सफलतापूर्वक पार कर जाने के बाद मूल्यवान मानसिक सन्तोष मिलता है।

प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली वह विभूति है : बिम्बों की जीवन्त उर्वरता। हमें एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जिसके मस्तिष्क में मूर्तिमान कल्पनाओं की एक जबर्दस्त भीड़ सागर की तरह लहरें ले रहा है। यह कहना कि लक्ष्मीकान्त के बिम्ब उनके

आशयों के प्रतीक हैं, ग़लत होगा। वस्तुतः लक्ष्मीकान्त की विचार-धारा, कल्पना और अनुभूति सब-कुछ बिम्बों में ही होती है। इन बिम्बों को अनायास शब्दों में लिख डालना ही उनका कृतित्व है। फ़ॉर्म और कण्टेण्ट—रूप और विषय दोनों ही एक साथ आबद्ध उतरते हैं, और इसी कारण लक्ष्मीकान्त की कविता में वास्तविकता है, विशिष्टता है। जिस कारण लक्ष्मीकान्त के कवि व्यक्तित्व से हमें आशा बँधती है, वह यह है कि फ़ॉर्म और कण्टेण्ट का यह सामंजस्य न उनके लिए 'मूड' है, और न परिपाटी। वह उनके व्यक्तित्व की सहज अभिव्यक्ति है।

फिर भी यह कहना भी आवश्यक है कि बिम्बों का यह प्रवाह, कहीं-कहीं असंयत हो जाता है और किनारे तोड़ने लगता है। फलस्वरूप एकता और सार्थकता को आघात पहुँचता है। चूँकि कविता का सारा रस और उसका प्राण इन बिम्बों में ही सीमित है, इसीलिए उनकी कलात्मक क्षति के उपरान्त रसिक पाठक के लिए रसाभास के नाम पर भी कुछ न बचने की आशंका रहती है। इस संसार का आवाहन लक्ष्मीकान्त भविष्य में किस रूप में करते हैं : इस पर उनकी कृति हिन्दी की नयी कविता के एक महत्त्वपूर्ण अंग की सफलता पर निर्भर है।

हस्ताक्षर

मैं आज भी ज़िन्दा हूँ
उस हस्ताक्षर की भाँति
जो मज़ाक़ मज़ाक़ में यों ही किसी वट वृक्ष के नीचे
पिकनिक, तफ़रीह, में लिख दिया गया था
एक तेज़ धार वाले फ़ौलाद की नोक
अब भी मेरी छाती में गड़ी है
और उस वट-वृक्ष का घायल सीना
उस दाग़ की रक्षा हर मौसम में करता है
छिली हुई पपड़ी पर छाल चढ़ जाती है,
दुधियारे पत्तों में बात बस जाती है,
जटाएँ भी झुकती हैं भूतल को छूती हैं
चरवाहे की वंशी की टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ : फ़ौलाद की थाती लिये
ज़ीता हूँ—
मैं आज भी ज़िन्दा हूँ!

एक स्थिति

इस ज़िन्दगी को क्या कहूँ
जो सर बसर बढ़ती रही
हर चटख़ती कली पर
विश्वास ही करती रही
एक छोटा दायरा संसार बनकर रह गया
क्या हुआ; क्या हो गया!

इतिहास और क्रीड़ा

एन्साइक्लोपेडिया के पन्नों में
[दबे हुए कीड़े के आकार प्रकार]
एक जिस्म कि जिसमें दिल नहीं
उस दिन अचानक पिस गया
एक ख़ून का धब्बा नेपोलियन के मस्तक पर रह गया
हर कोई जो किताब खोलेगा
उस सुर्ख़ धब्बे से घबरायेगा
मगर
यह सत्य है कि जिसने उसे किताब को खोला
वह कोई फ़ौजी जेनरल नहीं था
और जो दबकर मर गया
वह हृदय-हीन कीड़ा था!

आईना

मैं देख रहा हूँ :
दूर....
बहुत....दूर
धूप में टायर की छाप-सी उभर—
एक गाढ़ी काली ज़ंजीर में
दो बादलों के टुकड़े फँस गये हैं
कोई हवा, कोई धूप, कोई इन्द्र धनुष

पुरवा पछुवा के मीड़ पर चाहे जितना नाचे
इनकी छाप में कोई अन्तर नहीं पड़ता
सच बताना
यह आकाश आईना तो नहीं है?

बौनों की गठरी

[वर्षा-स्केच]

अनगिन बौनों की गठरी को
सिर पर लादे,
कन्धों पर बरसाती लम्बी
हाथों में बरसाती जूते
गाँठ गाँठ तक पैण्ट उठाये
कालर बाँधे,
बाँह सकेले,
बीच नाक पर उल्टी छतरी
की डंडी लटकाये
काली कमरी ओढ़
अंधेरी रातों इन गलियों में
कीचड़ का पेण्ट बाक्स ले
घूम रहा है
नहीं, नहीं—
पिछवाड़े से छत पर कूदा
फिसला, फिसला, फिसला....
भद्दा रूप वेश में सहसा
कौन कूद आया आँगन में....
नहीं अभी आया है छत पर
और किसी की बड़ी हैट से
अभी कूदकर कोई भागा है कमरों में
बरसाती की जेब खुल गई
स्काई लाइट के शीशे चटखे

कमरे में भी आकर कूदा
गठरी बाहर छूट रह गई
गठरी में से काले बौने
मुक्त हो गये,
दौड़े, भागे....टप....टप....टप
धम, धम, धम
चौंक गया मैं—शोर शराबा
आँखें खोलीं
देखा नभ पर घिर आये थे
काले बादल।

चींटी, चारा और तीतर

खुल गये चींटियों के पपड़े वाले द्वार
चीनी के दाने छिटका—
चल दिये उधर मानव उदार!
तीतर वाले ने खोल दिये
तीले पिंजड़े के
हो रही किसी की क्षुधा शान्त!
[चारागर भी सोच न पाया
क्या हयात? क्या मर्ज़]
मनुज मनुज का वर्ग
वह उदारता क्या जिसमें
मौत छिपी बेदर्द
[ये चारागर
मर्ज बढ़ाकर
आगे बढ़ते]

तीतर वाले
उड़ा गर्द खूराक ढूँढ़ते
एक तमाशा

[वाह....वाह....वाह....बेटा वाह!
एक चोट....एक चोट और
युद्ध, क्रांति, संक्रान्ति
व्याप्त रहा है तिक्त]

आत्म-परिचय

लक्ष्मीकान्त—
बाल बिखरे
गाल पिचके
निष्प्रभ....
....क्लान्त
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्
श्रीयुत....
श्री लक्ष्मीकांत
....
....
....कवि हो—?
छन्द नहीं लय नहीं—
केवल गति....
....पैराशूट
....
मूर्ख हो यार
हबशी....अनाड़ी....वज्र फूहड़
काव्य, कवि, कविता से अनभिज्ञ
एक झूठा-सा कलेवर
आद्योपान्त!
....

[जानते हो ताप क्या था?
आदि क़वि की भावना का
क्रौंच जब घायल गिरा था
काव्य के रस-स्निग्ध चरणों पर?]
....झूठे नब्बाज़
....कलाबाज़—
रस्सी पर नाचने वाले नट हो—
....नृत्यहीन
जानते हो—
परमाणुओं में नाद कितना
ज्योति कितनी
नृत्य कितना है अँधेरे में....
सौर चक्र-व्यूह में वह कौन-सा रव है
कि जिससे एक गति अविचल निरत है
....क्रमबद्ध
....संचित भावना से हीन
....
तुम कलह
आक्रान्त स्वर संक्रान्त
वितरित कर रहे हो जर्म्स—
ओ संदिग्धता उद्भ्रान्त
श्रीमान्
श्री....श्री....श्री लक्ष्मीकान्त!

कमबख़्त हो जी
सड़क पर छकड़ा भरा है
कूड़ा-करकट लाद लो
पाट दो उस मच्छरों से भरे गड्ढे और खाई को—
कि जो उस जुही की कलिका के निकट है
मन्द सौरभ को मिटाने में सबल है

....यह क्रूर अत्याचार
....व्यथा? अनाचार

[हटाओ भी यार....
संसार में शिव ही शिव है
सत्य से भयभीत कोई मत नहीं है
सभी शिव है....सदा शिव]
सामने हौली खड़ी है
एक बोतल, एक प्याली
प्याज़ की पकौड़ी
इक्के-ताँगे वालों की गाली
....मस्ती
....फ़ाका मस्ती
....पस्ती
सरस्ता में दस्ती पैग़ाम
सत्य शिव है
    रे मतान्त—
शान्त....शान्त....चिर अशान्त
    अस्त-व्यस्त—
जीवन की गठरी का भार
    चिर अशान्त
    चिर अशान्त
    श्रीमान्....
    श्रीयुत....
    श्री....श्री....श्री लक्ष्मीकान्त!

क़मीज़ के बटन
बटन होल से बाहर जो
दाँत निकाले से पड़े हैं
उन्हें समेट लो

आस्तीन के कालर
कोट की सीमा से बाहर मत जाने दो
गाल पिचके,
बाल बिखरे,
    फूल कर
    तन कर—
    बैठो न
कमर झुकी चिन्तित सा देख तुम्हें
देखने वाले देखेंगे
    महज़ देखेंगे
हँसी....मज़ाक....ताने....व्यंग्य
अह....ह....ह....ह....हा
....भयावह
....भयंकर....
....मरणासन्न
....अन्तर....क्या]

हुआ क्या?
जो भी है देख लो
मैं नग्न हूँ....नग्न
गतिलीन....
....अति प्रच्छन्न
....हृदय की धड़कन
और जीवन....
....बारेसी है ग़रीब की
....आँच नहीं
जल....
    जल रे जल
    अविरल

नितान्त
श्रीमान्
श्रीमान्
श्रीमान्
श्री लक्ष्मीकान्त!
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्, सर्वश्री
श्री लक्ष्मीकान्त

नयी कविता के सम्पादक

डॉ० जगदीश गुप्त

- जन्म 1924, शांहाबाद, हरदोई, उत्तर-प्रदेश।
- इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष। 1986-87 में अवकाश प्राप्त।
- प्रयाग में गंगा तट पर निवास। 'गंगे तव दर्शनात् मुक्ति' : उक्ति विशेष सार्थक हुई।
- अनेक कविता संग्रह प्रकाशित। ब्रजभाषा की कविता में भी रचनात्मक प्रवृत्ति।
- कविता और चित्रकला का साहचर्य, प्रेरक विषय।
- 'नयी कविता' का 1954 से 1967 तक सम्पादन।
- 'मैथिलीशरण गुप्त' सम्मान तथा 'भारत भारती' सम्मान से सम्मानित।

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

- जन्म : 1931, कानपुर में।
- इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य और हिन्दी विभाग के अध्यक्ष।
- 'नये पत्ते' (1952), 'नयी कविता' (1954), 'क ख ग' (1963) तथा शोध त्रैमासिक 'हिन्दी अनुशीलन' (1960-1984) का सम्पादन।
- प्रसिद्ध समीक्षक और विचारक।
- साधना तथा व्यास सम्मान से सम्मानित।

डॉ० विजयदेव नारायण साही

- जन्म : अक्टूबर 1924, वाराणसी में।
- काशी विद्यापीठ के बाद अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद में अध्यापन। प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1978।
- राजनीति, कविता और हिन्दी आलोचना में विशेष रुचि। गांधी, लोहिया—जयप्रकाश जयंती पर भाषण देकर लौटने पर 13 अक्टूबर 1982 को दिल का दौरा पड़ा। 5 नवम्बर, 1982 को यह संसार छोड़ गये।
- 'साखी' और 'मछलीघर' इनके प्रमुख कविता संग्रह हैं। 'छठवां दशक' और 'जायसी' इनके प्रमुख आलोचना ग्रंथ हैं।
- नयी कविता के सम्पादन के रूप में पूर्ण सहयोग।

*** आवरण
श्री अभिनव गुप्त
श्री राधेश्याम अग्रवाल

नयी कविता पर विचार बिन्दु

- नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के धड़कते हुए पालने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों में पेंग भरने को छोड़ दिया है, जहाँ वह साहस के साथ सुख-दुःख, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफ़ानों का सामना कर सके, अन्तर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभवों से परिपक्व बन सके। नयी कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।

—सुमित्रानन्दन पन्त

- आज के विज्ञान की चुनौती को केवल कविता ही स्वीकार कर सकती है। विज्ञान जीवन में उत्साह और उमंग नहीं भरेगा। यह काम तो कविता ही करेगी। नयी कविता आज की नयी समस्याओं के बीच वट-वृक्ष की तरह रहेगी। उसे पराजय मानने की आवश्यकता नहीं। पराजय से बड़ा तो पराजय का विश्वास होता है, पराजय की आशंका होती है। नये युग की कविता, मनुष्यता को किसी उज्जवल भविष्य और मंजिल तक पहुँचा देगी।

—महादेवी वर्मा

- ...सिद्ध है कि कविता बिना छन्द के भी हो सकती है, इसलिए छन्द त्यक्त हो रहे हैं। सिद्ध है कि कविता केवल कोमल शब्दों के जोड़ में नहीं है. इसलिए कोमलता की परम्परा टूट रही है। सिद्ध है कि कविता के विषय निर्धारित नहीं किये जा सकते, इसलिए अपरिचित, अप्रत्याशित और अनपेक्षित विषय कविता में भरते जा रहे हैं।

  ...मेरा अनुमान है कि जिन अवस्थाओं ने इंग्लैण्ड में नये कवियों को उत्पन्न किया, उनसे मिलती-जुलती अवस्थाएँ अपने यहाँ के बुद्धिजीवियों को भी अनुभूत होने लगी हैं। इसलिए, उनमें और यूरोपीय कवियों में थोड़ा बहुत साम्य दिखलाई दे रहा है।

—रामधारीसिंह 'दिनकर'